॥ श्रीः ॥

अवधूतगीता ।

तथा

सप्तश्लोकीगीता

पंडित घनश्यामजी

चातुर्वेदी कृत भाषानुवाद सहिता ।

जिसको

किशनलाल द्वारकाप्रसाद

तथा

विष्णुदत्त रामभरोसे ने

"बंबईभूषण" प्रेस मथुरा में

छपवाकर प्रकाशित किया ।

Printed by B. Kishanlal at his own
Bombay Bhushan Press Muttra.

* श्रीगणेशायनमः *

अवधूतगीता

भाषाटीकासहिता

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना ।
महद्भयपरित्राणाद्विप्राणामुपजायते ॥ १ ॥

बडे भयसे रक्षा करनेवाली अभेदबुद्धि पुरुषश्रेष्ठ ब्राह्मणों में उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

येनेदंपूरितं सर्वमात्मनैवात्मनात्मनि ।
निराकारंकथंवन्दे ह्यभिन्नंशिवमव्ययम् ॥२॥

जिसने अपने आत्मारूप मायासे इस सब विश्वको अपने बीचमें रचाहै वह निराकार है, सबमें व्याप्तहै, कल्याणरूपहै, अविनाशीहै, उसको किसतरह बंदनाकरूं ॥२॥

पञ्चभूतात्मकं विश्वं मरीचिजलसन्निभम् ।
कस्याप्यहो नमस्कुर्यामहमेको निरञ्जनः॥३॥

पृथ्वी जल तेज वायु आकाश इन पांच तत्वों से बना हुआ जो जगत है सो मृगतृष्णाके जलके समान झूँठा है में एक और निरजनहूं अहो ! में किसके लिये नमस्कार करूं ॥ ३ ॥

T

आत्मैव केवलं सर्वं भेदाभेदो न विद्यते ।
अस्तिनास्तिकथं ब्रूयां विस्मयःप्रतिभाति मे ४

केवल आत्माही सबमें है इसमें भेद और अभेद कुछ नहीं है इसके संबंध में अस्ति नास्ति (है वा नहीं है) किस तरह कहा जाय ये मुझको बड़ा आश्चर्य मालुम होता है ॥ ४ ॥

वेदान्तसारसर्वस्वं ज्ञानविज्ञानमेव च ।
अहमात्मानिराकारः सर्वव्यापीस्वभावतः॥५॥

वेदान्तोंका सार सर्वस्व यहीहै और यही ज्ञान, विज्ञान है कि स्वभाव से सबमें वर्तने वाला और निराकार जो आत्मा है वह मैंहीहूं ॥ ५ ॥

यो वै सर्वात्मकोदेवो निष्कलो गगनोपमः ।
स्वभावनिर्मलःशुद्धः सएवाहं न संशयः ॥६॥

जो देव सबकी आत्माहै कलारहित है आकाशके समान है स्वभावसे निर्मल और शुद्धहै वही में हूं इसमें संदह नहीं है ॥ ६ ॥

अहमेवाव्ययोऽनन्तः शुद्धविज्ञानविग्रहः ।
सुखं दुःखं न जानामि कथं कस्यापिवर्तते॥७॥

मैंही अविनाशी और अनंत (जिसका अन्त नहीं है) हूं शुद्ध ज्ञानस्वरूप मैंहीहूं । सुख और दुःख किसको और किसतरह उपस्थित होतेहैं यह में नहीं जानताहूं ॥ ७ ॥

न मानसं कर्म शुभाशुभं मे ।
न कायिकं कर्म शुभाशुभं मे ॥
न वाचिकं कर्म शुभाशुभं मे ।
ज्ञानामृतं शुद्धमतींद्रियोऽहम् ॥ ८ ॥

मेरे बीचमें मन संबंधी शुभ अशुभ कर्म नहीं हैं शरीर संबंधी शुभ अशुभ कर्म नहीं हैं वाणीसंबंधी शुभ अशुभ कर्म मुझमें नहीं हैं में ज्ञानअमृत स्वरूपहूं, शुद्धहूं और इन्द्रियों से परैं हूं ॥ ८ ॥

मनो वै गगनाकारं मनो वै सर्वतोमुखम् ।
मनोऽतीतं मनः सर्वं न मनः परमार्थतः ॥९॥

मन आकाशके समानहै मन चारों तरफसे मुखवाला है मन परैं है मनही सनहै वास्तव में आत्मासे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ९ ॥

अहमेकमिदं सर्वं व्योमातीतं निरन्तरम् ।
पश्यामि कथमात्मानं प्रत्यक्षं वा तिरोहितं १०

यह सब विश्व आकाशसे परैं है और सदा है यह में देखताहूं परंतु आत्मा प्रत्यक्ष है वा छिपा हुआ यह में किस तरह से देख सकता हूं ॥ १० ॥

त्वमेवमेकं हि कथं न बुध्यसे ।
समं हि सर्वेषु विमृष्टमव्ययम् ॥

T

सदोदितोऽसि त्वमखण्डितः प्रभो ।
दिवा च नक्तं च कथं हि मन्यसे ॥११॥

तुम एकहो, इसलिये समता क्यों नहीं देखतेहो, तुम संपूर्ण प्राणियों में अविनाशी और समभाव में रहते हो हे प्रभो ! तुम सदा प्रकाशरूप और अखण्डित हो फिर दिन और रातको किस प्रकार मानतेहो ॥ ११ ॥

आत्मानं सततं विद्धि सर्वत्रैकं निरन्तरम् ।
अहं ध्याता परं ध्येयमखण्डं खण्ड्यते कथम् १२

आत्मा सदा सब जगह एक है और नित्यहै यह जानो मैं ध्यान करनेवाला और परमध्येय अर्थात् ध्यानके योग्य हूं यह कहकर उस अखण्डित पुरुषको किस प्रकार से खण्डित करते हो ॥ १२ ॥

न जातो न मृतोऽसि त्वं न ते देहः कदाचन ।
सर्वं ब्रह्मेति विख्यातं ब्रवीति बहुधा श्रुतिः।१३।

न तूने जन्म लियाहै, न माराहै, न तेरा कभी शरीर है सब ब्रह्म हैं इस बातको श्रुति अनेक प्रकार से कहतीहैं १३

सबाह्याभ्यन्तरोऽसि त्वं शिवः सर्वत्र सर्वदा ।
इतस्ततः कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाचवत् १४

तू बाहर है और भीतर है सब जगह सदा शिवरूप है इधर उधर पिशाच की तरह क्यों घूमता फिरताहै ॥१४॥

T

संयोगश्च वियोगश्च वर्तते न च ते न मे ।
न त्वं नाहं जगन्नेदं सर्वमात्मैव केवलम् ॥१५॥

तेरा और मेरा न संयोग है, न वियोग है, न तू है न मैं हूं न ये जगत् है सब जो कुछ है वह केवल ब्रह्मही है॥१५॥

शब्दादिपञ्चकस्यास्य नैवासि त्वं न ते पुनः ।
त्वमेव परमं तत्त्वमतः किं परितप्यसे ॥१६॥

शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, इनके बीचमें तू नहीं है और न वे तेरे बीचमें हैं तू परम तत्व है इससे क्यों संताप करता है ॥ १६ ॥

जन्म मृत्युर्नते चित्तं बन्धमोक्षौ शुभाशुभौ ।
कथंरोदिषि रे वत्स नामरूपं न ते न मे ॥१७॥

न तेरा जन्महै न मृत्यु है न तेरा चित्त है न बंधन और मोक्ष है न शुभ और अशुभ है अतएव रे वत्स ! तू क्यों रोताहै ? यह सब नाम और रूपमात्र है न तेरा है न मेरा है ॥ १७ ॥

अहो चित्त कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाचवत् ।
अभिन्नं पश्य चात्मानं रागत्यागात्सुखी भव १८

हे चित्त ! तू घबडाकर पिशाच की तरह क्यों दौडता फिरता है आत्मा को अभिन्नभाव में देख और विषयोंको छोडकर सुखी हो ॥ १८ ॥

त्वमेव तत्त्वं हि विकारवर्जितं ।
निष्कम्पमेकं हि विमोक्षविग्रहम् ॥
न ते च रागो ह्यथवा विरागः ।
कथं हि संतप्यसि कामकामतः ॥१९॥

तूही विकारतत्व एक निष्कल और मोक्षस्वरूप है न तेरें रागहै न विरागहै फिर विषय वासना में लीन होकर क्यों संताप करताहै ॥ १९ ॥

वदन्ति श्रुतयः सर्वा निर्गुणं शुद्धमव्ययम् ।
अशरीरं समं तत्त्वं तन्मां विद्धि न संशयः।२०।

सब श्रुति कहती हैं कि ईश्वर निर्गुणहै शुद्धहै अविनाशी है उसके शरीर नहींहै समान है तत्वहै वह मेंहीहूं सो जान इसमें संदह नहींहै ॥ २० ॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारं निरन्तरम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसंभवः ॥ २१ ॥

साकार झूंठाहै निराकार नित्यहै यह जान, इसी तत्व के उपदेशसे फिर संसार में नहीं आवैगा ॥ २१ ॥

एकमेव समं तत्त्वं वदन्ति हि विपश्चितः ।
रागत्यागात्पुनश्चित्तमेकानेकं न विद्यते ॥२२॥

विद्वान् कहते हैं कि एकही समान तत्वहै विषयों को छोडदेने से चित्त एकाग्र होजाता है फिर डामाडोल नहीं होता है ॥ २२ ॥

अनात्मरूपं च कथं समाधि-
रात्मस्वरूपं च कथं समाधिः ॥
अस्तीति नास्तीति कथं समाधि-
र्मोक्षस्वरूपं यदि सर्वमेकम् ॥ २३ ॥

जो आत्माका रूप नहीं हैं तौ फिर समाधि किस तरह होसकती है और जो अपनाही स्वरूप है तौ भी समाधि कैसें है ये पदार्थ है ये नहीं है इस प्रकार जो बुद्धि में कल्पनाहै तौभी समाधि कैसें है ये सब एकहै और मोक्ष स्वरूप है ॥ २३ ॥

विशुद्धोऽसि समं तत्त्वं विदेहस्त्वमजोऽव्ययः ।
जानामीह न जानामीत्यात्मानं मन्यसे कथं २४

तू शुद्ध है समान तत्वहै देह रहितहै अजन्मा है अविनाशी है मैं जानताहूं और नहीं जानताहूं तू आत्माको किस तरह मानता है ॥ २४ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यैश्च स्वात्मा हि प्रतिपादितः ।
नेतिनेतिश्रुतिर्ब्रूयादनृतं पाञ्चभौतिकम् ।२५।

वह तू है इत्यादि वाक्यों से आत्मा प्रतिपादन किया जाता है यह भी नहींहै यह भी नहीं है इस प्रकार से श्रुति इस (१) पचभूत से बनेहुए विश्वको झूठा बतलातीहै २५

१ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ये पांच तत्व हैं ।

आत्मन्येवात्मना सर्वं त्वया पूर्णं निरन्तरम्।
ध्याता ध्यानं न ते चित्तं निर्लज्जं ध्यायते कथं २६

तुमने अपने बीच में आत्मासे सब विश्वको पूर्ण किया है तू ध्यान करने वाला है दूसरे के ध्यानमें नहीं आताहै फिर निर्लज्ज होकर क्यों ध्यान करताहै ॥ २६ ॥

शिवं न जानामि कथं वदामि ।
शिवं न जानामि कथं भजामि ॥
अहं शिवश्चेत्परमार्थ तत्वं ।
समस्वरूपं गगनोपमं च ॥ २७ ॥

शिवको में नहीं जानताहूं किसतरह बताऊं शिवको जानता नहींहूं किसतरह भजूं यदि मेंही शिवहूं तौ परम-तत्वरूपहूं समान स्वरूपहूं आकाशके समानहूं ॥ २७ ॥

नाहं तत्त्वं समं तत्त्वं कल्पनाहेतुवर्जितम् ।
ग्राह्यग्राहकनिर्मुक्तं स्वसंवेद्यं कथं भवेत्॥२८॥

कल्पना और हेतु इनसे रहित जो समानतत्व है वह में नहीं हूं ग्राह्य=ग्रहण करने योग्य और ग्राहक=ग्रहण करनेवाला ये दौनों बात उसमें नहीं हैं अर्थात् न तौ वह किसीसे ग्रहण कियाजाताहै न वह किसीको ग्रहण करता है वह ऐसा ईश्वर अपने आप किसप्रकार जाना जा सकता है ॥ २८ ॥

T

अनंतरूपं न हि वस्तु किंचित्।
तत्त्वस्वरूपं नहि वस्तु किंचित्॥
आत्मैकरूपं परमार्थतत्त्वं।
न हिंसको वापि न चाप्यहिंसा॥२९॥

कोई वस्तु अनंतरूप नहीं है, कोई वस्तु तत्वस्वरूप भी नहीं है, परम अर्थ और तत्वका स्वरूप एक आत्माही है, इसमें हिंसा और अहिंसा का कुछभी भाव नहीं है २९

विशुद्धोऽसि समं तत्त्वं विदेहमजमव्ययम्।
विभ्रमं कथमात्मार्थे विभ्रान्तोऽहं कथं पुनः ३०

तू विशेष शुद्ध है समान तत्वहै देहरहित है अजन्मा है और विनाशरहित है फिर आत्माके अर्थ भ्रम क्यों है और मैं और तू क्यों चक्कर में पडे हैं॥ ३०॥

घटे भिन्ने घटाकाशं सुलीनं भेदवर्जितम्।
शिवेन मनसा शुद्धो न भेदः प्रतिभाति मे ३१

घडे के फूटजाने पर जो घडेके भीतर आकाश है वह महा आकाशमें लीन होजाता है और उसमें भेद नहीं रहताहै इसीप्रकार मनके शुद्ध होने पर जीव शिवमें लीन होजाता है मुझको भेद नहीं मालुम होताहै॥ ३१॥

न घटो न घटाकाशो न जीवो जीवविग्रहः।
केवलं ब्रह्म संविद्धि वेद्यवेदकवर्जितम्॥३२॥

न घडाहै, न घटाकाश (घडेका आकाश है,) न जीव है, न जीवका शरीर है, जानने योग्य और जाननेवाला इन दोनोंसे वर्जित वह ब्रह्म है सो जान॥ ३२॥

सर्वत्र सर्वदा सर्वमात्मानं सततं ध्रुवम्।
सर्वं शून्यमशून्यं च तन्मां विद्धि न संशयः ३३

सब जगह सदा सबका स्वरूप आत्माहै सर्वव्यापी है और नित्यहै और सब शून्यहै और शून्यरहित है वह मैं हूं सो जान इसमें संदेह नहीं है॥ ३३॥

वेदा न लोका न सुरा न यज्ञा।
वर्णाश्रमौ नैव कुलं न जातिः॥
न धूमामार्गो न च दीप्तिमार्गो।
ब्रह्मैकरूपं परमार्थतत्त्वम्॥ ३४॥

न वेद हैं न लोक हैं न देवता हैं न यज्ञहैं न वर्णाश्रम है न कुलहै न जातिहै न धूममार्ग है न तेजका मार्ग है एक ब्रह्मरूपही परमार्थका तत्वहै॥ ३४॥

व्याप्यव्यापकनिर्मुक्तं त्वमेकः सकलो यदि।
प्रत्यक्षं चापरोक्षं च ह्यात्मानं मन्यसे कथम् ३५

व्याप्त होनेके योग्य और व्यापक इनसे भिन्न जो एक तुमहो यदि सबमें होतो आत्माको प्रत्यक्ष और परोक्ष कैसे मानते हो॥ ३५॥

T

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दंति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ३६

कोई द्वैतको मानते हैं कोई अद्वैत को मानते हैं द्वैत और अद्वैत से भिन्न जो समान तत्वहै उसको नहीं प्राप्त होतेहैं ॥ ३६ ॥

श्वेतादिवर्णरहितं शब्दादिगुणवर्जितम्।
कथयन्ति कथं तत्त्वं मनोवाचामगोचरम्।३७।

श्वेतादिवर्ण से रहित है शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, इन गुणों से वर्जित है मन और वाणी जिसमें पहुंचते नहीं हैं ऐसे तत्वको आदमी किस प्रकार कहते हैं ॥ ३७ ॥

यदाऽनृतमिदं सर्वं देहादिगगनोपमम्।
तदा हि ब्रह्म संवेत्ति न ते द्वैतपरंपरा ॥३८॥

जब देहादि ये सब विश्व झूंठाहै तब आकाशके समान ब्रह्महीहै यह जानौ तुम्हारे बीचमें भेद नहीं है ॥ ३८ ॥

परेण सहजात्मापि ह्यभिन्नः प्रतिभाति मे।
व्योमाकारं तथैवैकं ध्याता ध्यानं कथं भवेत्३९

मुझको मालुम होताहै कि परमेश्वर से जीवात्मा अलग नहीं है यह जीव आकाश के आकारका है एक है ध्यान करनेवाला है ॥ ३९ ॥

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।

एतत्सर्वं न मे किंचिद्विशुद्धोऽहमजोऽव्ययः ४०

जो काम में करताहूं जो खाताहूं जो हवन करताहूं जो देताहूं ये सब मेरा कुछ नहीं है में शुद्धहूं अजन्माहूं और नाशरहितहूं ॥ ४० ॥

सर्वं जगद्विद्धि निराकृतीदं ।
सर्वं जगद्विद्धि विकारहीनम् ॥
सर्वं जगद्विद्धि विशुद्धदेहं ।
सर्वं जगद्विद्धि शिवैकरूपम् ॥ ४१ ॥

इस सब जगत्को निराकार जानौ सब जगत्को विकारहीन समझो सब जगत को शुद्ध देहवाला; समझो सब जगत को एक शिवका रूप समझो ॥ ४१ ॥

तत्त्वं त्वं हि न संदेहः किं जानाम्यथवा पुनः ।
असंवेद्यं स्वसंवेद्यमात्मानं मन्यसे कथम्॥४२॥

तू तत्वरूप है इसमें संदेह नहीं है और इससे ज्यादा में क्या कहूं परन्तु आत्माको, जो जाना न जाय और जो जानलिया जाय ये दोनों बात क्यों मानते हो ॥ ४२ ॥

मायामाया कथं तात छायाछाया न विद्यते ।
तत्त्वमेकमिदं सर्वं व्योमाकारं निरंजनम् ४३

हे तात ! जो मायाहै वह अमाया किसप्रकार हो सकती है जो छायाहै वह अछाया कैसे हो सकतीहै यह सब एक तत्वहै आकाश के समानहै, शुद्ध है ॥ ४३ ॥

आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन ।
स्वभावनिर्मलः शुद्ध इति मे निश्चिता मतिः ४४

मैं आदि, मध्य, अंत, से मुक्तहूं मुझको बंधन कभी नहीं है स्वभाव से निर्मल और शुद्धहूं यह मेरी बुद्धिने निश्चय कियाहै ॥ ४४ ॥

महदादि जगत्सर्वं न किंचित्प्रतिभाति मे ।
ब्रह्मैव केवलं सर्वं कथं वर्णाश्रमस्थितिः ॥४५॥

महत्तत्व से लेकर जो सब जगतहै वह मुझको कुछ नहीं मालुम होताहै केवल सब ब्रह्महीहै फिर वर्ण और आश्रम की स्थिति किस तरह है ॥ ४५ ॥

जानामि सर्वथा सर्वमहमेको निरन्तरम् ।
निरालम्बमशून्यं च शून्यं व्योमादिपंचकम् ४६

मैं अकेलाही सब तरहसे सब जगत् को जानताहूं वह नित्य है आधाररहित है शून्य नहीं है आकाश से आदि लेकर जो पांच तत्वहैं सो शून्यहैं ॥ ४६ ॥

न षण्ढो न पुमान्नस्त्री न बोधो नैव कल्पना ।
सानन्दो वा निरानन्दमात्मानं मन्यसे कथं ४७

आत्मा न नपुंसकहै, न पुरुषहै, न स्त्रीहै, न बोधहै, न कल्पनारूप है फिर आत्माको सानंद वा निरानंद क्यों मानताहै ॥ ४७ ॥

षडंगयोगान्न तु नैव शुद्धं ।
मनोविनाशान्न तु नैव शुद्धम् ॥
गुरूपदेशान्न तु नैव शुद्धं ।
स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव शुद्धम् ॥४८॥

षडंग योग से शुद्ध न होता होय यह बात नहींहै मन के नाशसे शुद्ध न होय यहभी बात नहीं है गुरूके उपदेश से शुद्ध न होय यहभी नहीं है अर्थात् इन सब बातोंसे शुद्ध होजाता है वह स्वयं तत्वहै आपही शुद्धहै ॥ ४८ ॥

न हि पंचात्मको देहो विदेहो वर्त्तते न हि ।
आत्मैव केवलं सर्वं तुरीयं च त्रयं कथम् ॥४९॥

पांच तत्वों से बना हुआ देह नहीं है विदेह भी नहींहै सब केवल आत्माही है फिर सुषुप्ति और समाधि आदि अवस्था किस तरहहैं ॥ ४९ ॥

न बद्धो वै न मुक्तोऽहं न चाहं ब्रह्मणःपृथक् ।
न कर्ता न च भोक्ताहं व्याप्यव्यापकवर्जितः ५०

न मैं बँधाहूं, न छूटाहूं, न ब्रह्मसे अलगहूं, नमैं करनेवालाहूं, न भोगनेवाला हूं व्याप्य और व्यापक इनसे वर्जितहूं ॥ ५० ॥

यथा जलं जले न्यस्तं सलिलं भेदवर्जितम् ।
प्रकृतिं पुरुषं तद्वदभिन्नं प्रतिभाति मे ॥५१॥

जैसे जलमें जल मिला देने से जलही होताहै कुछ भेद नहीं रहता है इसी तरह प्रकृति और पुरुष मुझको भिन्न नहीं मालुम होतेहैं ॥ ५१ ॥

यदि नाम न मुक्तोऽसि न बद्धोऽसि कदाचन।
साकारं च निराकारमात्मानं मन्यसे कथम्॥५२

जो तू न मुक्त है न बंधाहुआ है तो अपने लिये साकार और निराकार क्यों मानताहै ॥ ५२ ॥

जानामि ते परं रूपं प्रत्यक्षं गगनोपमम्।
यथा परं हि रूपं यन्मरीचिजलसन्निभम्॥५३॥

तेरे असली रूपको मैं जानताहूं प्रत्यक्ष में आकाश के समान है और दूसरा जो रूप है सो मृगतृष्णाके जलके समानहै ॥ ५३ ॥

न गुरुर्नोपदेशश्च न चोपाधिर्न मे क्रिया।
विदेहं गगनं विद्धि विशुद्धोऽहं स्वभावतः ५४

न मेरे गुरु है, न उपदेशहै, न मेरे उपाधि है, न क्रिया है, आकाश रूपी देह है सो तू जान मैं स्वभाव से ही शुद्धहूं ॥ ५४ ॥

विशुद्धोऽस्यशरीरोऽसि न ते चित्तं परात्परं।
अहं चात्मा परं तत्त्वमिति वक्तुं न लज्जसे॥५५॥

तू विशेष शुद्ध है देहरहित है सबसे परे जो चैतन्य है

वह तेरे नहीं है में आत्माहूं परमतत्वहूं यह कहने में तुझ को लाज नहीं आती है ॥ ५५ ॥

कथं रोदिषि रेचित्त ह्यात्मैवात्मात्मना भव ।
पिव वत्सकलातीतमद्वैतं परमामृतम् ॥५६॥

रे चित्त ! तू क्यों रुदन करताहै तू परमात्मामें मिलजा हे वत्स ! जिसमें कि कला नहीं है ऐसे अद्वैतरूपी परम अमृतका पान कर ॥ ५६ ॥

नैव बोधो न चाबोधो न बोधाबोध एवच ।
यस्येदृशः सदा बोधः स बोधो नान्यथा भवेत् ५७

न तो वह बोधहै, न अबोधहै न इन दोनों के बीचमें है जिसका कि इस प्रकारका ज्ञान है वही ज्ञान है इसके विरुद्ध नहीं हो सकताहै ॥ ५७ ॥

ज्ञानं न तर्को न समाधियोगो ।
न देशकालौ न गुरूपदेशः ॥
स्वभावसंवित्तिरहंच तत्त्व ।
माकाशकल्पं सहजं ध्रुवं च ॥ ५८ ॥

न ज्ञानहै, न तर्कहै, न समाधि और योगहैं, न देश-कालहैं, न गुरूका उपदेशहै, में स्वभावही से ज्ञानस्वरूप, परमतत्व,आकाशके समान,स्वाभाविक, और नित्यहूं ५८

न जातोऽहं मृतो वापि न मे कर्म शुभाशुभम् ।

विशुद्धं निर्गुणं ब्रह्म बंधो मुक्तिः कथं मम ।५९।

न मैं पैदा हुआहूं, न मराहूं, न मेरे शुभ अशुभ कर्म हैं, मैं विशुद्ध निर्गुण ब्रह्महूं, मेरा बंधन और मोक्ष किसप्रकार हो सकते हैं ॥ ५९ ॥

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः ।
अन्तरं हि न पश्यामि सबाह्याभ्यन्तरः कथं६०

यदि वह देव सर्वव्यापीहै, स्थिरहै, पूर्णहै, नित्यहै, तो मैं उसमें कुछ अंतर नहीं देखताहूं फिर वह बाहर और भीतर किस तरहसे है ॥ ६० ॥

स्फुरत्येव जगत्कृत्स्नमखण्डितनिरन्तरम् ।
अहो मायामहामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना।६१।

वह परमेश्वर अखंडित और निरंतर इस विश्वको प्रकाशित करताहै तब अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि द्वैत और अद्वैत की जो कल्पना है वह माया का बडा भारी मोह है ॥ ६१ ॥

साकारं च निराकारं नेति नेतीति सर्वदा ।
भेदाभेदविनिर्मुक्तो वर्तते केवलः शिवः॥६२॥

साकार और निराकार दोनों के संबंध में सदा यहही कहा करते हैं कि यहभी नहीं, यह भी नहीं तब भेद और अभेद इन से अलग एक केवल शिवही वर्तमानहै ॥ ६२॥

न ते च माता च पिता च बंधु-
र्न ते च पत्नी न सुतश्च मित्रम् ॥
न पक्षपातो न विपक्षपातः ।
कथं हि संतप्तिरियं हि चित्ते ॥ ६३ ॥

न तेरे माताहै, न पिताहै, न बंधुहै, न स्त्रीहै, न तेरे पुत्रहै, न मित्रहै, न तेरा किसीके साथ पक्षपात है न विपक्षपात है फिर चित्तमें ऐसा संताप क्योंहै ॥ ६३ ॥

दिवा नक्तं न ते चित्त उदयास्तमयौ न हि ।
विदेहस्य शरीरत्वं कल्पयंति कथं बुधाः ॥६४॥

रे चित्त ! में तेरे संबंध में दिन रात नहींहैं, न उदय और अस्तहैं, पंडित लोग अशरीरी का शरीर किसप्रकार से कल्पना करते हैं ॥ ६४ ॥

नाविभक्तं विभक्तं च नहि दुःखसुखादि च ।
नहि सर्वमसर्वं च विद्धि चात्मानमव्ययम् ।६५।

आत्मा के संबधम न आभक्तता है न विभक्तत न सुखहै, न दुखहै, न संपूर्णता है न अपूर्णताहै आत्माक केवळ विनाशरहित जानना चाहिये ॥ ६५ ॥

नाहं कर्ता न भोक्ता च न मे कर्म पुराऽधुना ।
न मे देहो विदेहो वा निर्ममेति ममेति किम् ६६

न में कर्ताहूं न भोक्ताहूं न मेरे पहिले कर्मथे न अबहैं,

T

न मेरे देहहै, न विदेहहै, फिर निर्ममता और ममता कैसे हो सकते हैं ॥ ६६ ॥

न मे रागादिको दोषो दुःखं देहादिकं न मे।
आत्मानं विद्धि मामेकं विशालं गगनोपमम्॥६७

न मेरे विषयादिकदोषहैं, मेरे देहसे आदि लेकर दुःखभी नहींहैं, मैं एक विशाल आकाशके समान आत्माहूं, सो जान ॥ ६७ ॥

सखे मनः किं बहु जल्पितेन।
सखे मनः सर्वमिदं वितर्क्यम् ॥
यत्सारभूतं कथितं मया ते।
त्वमेव तत्त्वं गगनोपमोऽसि ॥ ६८ ॥

हे सखे! मन, बहुत कहनेसे क्या प्रयोजन है, हे सखे! मन, इस सब तर्क वितर्कसे भी क्या प्रयोजन हैं मैंने जो सारभूत तुझसे कहाहै वह तूही आकाशके समान परम वस्तु है ॥ ६८ ॥

येन केनापि भावेन यत्र कुत्र मृता अपि।
योगिनस्तत्र लीयंते घटाकाशमिवाम्बरे ।६९।

जिस किसी भावसे योगी जहां कहीं मरजाय वह परमात्मामें ऐसे लीन होजाता है जैसे घड़के फूटजाने पर उसका आकाश बड़े आकाशमें लीन होजाताहै ॥६९॥

तीर्थे चान्त्यजगेहे वा नष्टस्मृतिरपि त्यजन् ।
समकाले तनुं मुक्तः कैवल्यव्यापको भवेत् ॥७०॥

जिसको स्मरण नहीं रहा ऐसा भी योगी तीर्थमें अथवा शूद्रके घर में समान समय में देह त्याग करै तौ संसार के बंधनों से छूटकर मोक्ष स्वरूप होजाता है ॥ ७० ॥

धर्मार्थकाममोक्षांश्च द्विपदादिचराचरम् ।
मन्यन्ते योगिनः सर्वं मरीचि जलसन्निभम् ॥७१॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, और मनुष्यसे लेकर चराचर विश्व इन सबको योगी मृगतृष्णाके जलके समान झूंठ समझते हैं ॥ ७१ ॥

अतीतानागतं कर्म वर्तमानं तथैव च ।
न करोमि न भुञ्जामि इति मे निश्चला मतिः ॥७२॥

जो बीतगये हैं जो आनेवाले हैं और वर्तमान हैं ऐसे जो कर्महैं उनको मैं न करताहूं न भोगताहूं यह मेरी निश्चल बुद्धिहै ॥ ७२ ॥

शून्यागारे समरसपूत-
स्तिष्ठन्नेकः सुखमवधूतः ॥
चरति हि नग्नस्त्यक्त्वा गर्वं ।
विन्दति केवलमात्मनि सर्वम् ॥७३॥

सूने मकान में समान रससे पवित्र होकर अव

अकेलाही बडे सुखसे रहता है घमंडको छोडकर नंगा हो कर घूमता है वह केवल आत्माके बीचमें सब आनंदको प्राप्त होताहै ॥ ७३ ॥

त्रितयतुरीयं नहि नहि यत्र ।
विन्दति केवलमात्मनि तत्र ॥
धर्माधर्मौ नहि नहि यत्र ।
बद्धो मुक्तः कथ मिह तत्र ॥ ७४ ॥

जिसमें कि सुषुप्ति, और समाधि, नहींहैं केवल आत्मा के बीचमें चैतन्य को प्राप्त होता है जिसमें कि धर्म अधर्म नहीं हैं उसमें बंधन और मोक्ष किस तरहसे हैं ७४।

विन्दति विन्दति नहि नहि मन्त्रं ।
छन्दोलक्षणं नहि नहि तन्त्रम् ॥
समरसमग्नो भावितपूतः ।
प्रलपितमेतत्परमवधूतः ॥ ७५ ॥

मंत्रको नहीं जानताहै, नहीं जानताहै, छंदोंके लक्षणों को नहीं जानताहै, तंत्रको नहीं जानताहै, समान रसमें मग्न भावना से शुद्ध होकर एक अवधूत योगी इस गानको गाताहै ॥ ७५ ॥

सर्वशून्यमशून्यं च सत्यासत्यं न विद्यते ।
स्वभावभावतः प्रोक्तं शास्त्रसंवित्तिपूर्वकम् ७६

सब जगत् शून्य है और अशून्य है सत्य और असत्य नहीं है शास्त्रके ज्ञानसे और अंतः कारण के भावसे यह कहा गया है ॥ ७६ ॥

इतिश्री दत्तात्रेय विरचितायां अवधूतगीतायामात्म
संवित्युपदेशोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

* द्वितीयोऽध्यायः *

अवधूत उवाच ।

बालस्य वा विषयभोगरतस्य वापि ।
मूर्खस्य सेवक जनस्य गृहस्थितस्य ॥
एतद्गुरोः किमपि नैव न चिन्तनीयं ।
कथं त्यजति कोऽप्यशुचौ प्रविष्टम् ॥ १ ॥

बालक हो अथवा विषय भोगमें फंसा हुआ हो मूर्ख होय, सेवकजन होय, गृहस्थहोय इस बातका सदुपदेष्टा गुरूके विषयमें कुछ विचार न करे जैसे किं गंदी जगह में पडे हुए रत्नको कोई नहीं छोडता है ॥ १ ॥

नैवात्र काव्यगुण एव तु चिन्तनीया ।
ग्राह्यः परं गुणवता खलु सार एव ॥

सिन्दूरचित्ररहिता भुवि रूपशून्या ।
पारं न किं नयति नौरिह गन्तुकामान् ।२।

गुरूके संबंध में काव्य और गुणों का विचार नहीं करना चाहिये, गुणवानको सारही ग्रहण करना चाहिये, जो सिंदूरादि अनेक प्रकारके रंगोंसे चित्रित नहीं हैं ऐसी कुरूप नाव क्या पार जानेवालोंको पार नहीं लेजातीहै २

प्रयत्नेन विना येन निश्चलेन चलाचलम् ।
ग्रस्तं स्वभावतः शान्तं चैतन्यं गगनोपमं ॥३॥

जो कि चलायमान नहीं है ऐसे परमात्माने यत्न के बिनाही सब जगत् को ग्रसलिया वह स्वभावसे शान्त है और चैतन्य है आकाशके समानहै ॥ ३ ॥

अयत्नाच्चालयेद्यस्तु एकमेव चराचरं ।
सर्वगं तत्कथं भिन्नमद्वैतं वर्तते मम ॥ ४ ॥

जो कि अकेलाही विना यत्नके इस चराचर जगत् को चलायमान करता है सर्वव्यापी है वह पृथक् कैसे हो सकता है वह अद्वैतहै, मेरे हृदय को ऐसा ही प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

अहमेव परं यस्मात्सारासारतरं शिवम् ।
गमागमविनिर्मुक्तं निर्विकल्पं निराकुलम् ।५।

मैं सारसे भी सार, शिवरूप, गमन और आगमन से

रहित, निर्विकल्प और निराकुल हूं ॥ ५ ॥

सर्वावयवनिर्मुक्तं तदहं त्रिदशार्चितम्।
संपूर्णत्वान्न गृण्हामि विभागं त्रिदशादिकं ६

मेरे सब अंग प्रत्यंगसे हीनहूं देवता मेरा पूजन करतेहैं, मैं देवादि का विभाग ग्रहण नहीं करताहूं क्योंकि मैं पूर्ण रूप हूं ॥ ६ ॥

प्रमादेन न संदेहः किं करिष्यामि वृत्तिवान्।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते बुद्बुदाश्च यथाजले ।७।

प्रमादयुक्त होने पर मुझे कुछ संदेह नहीं है वृत्तिवान होकर भी मैं क्या करूंगा जिस तरह जलसे उत्पन्न हो होकर बुलबुले जलही में लीन होजाते हैं; वैसही ये भी सब आत्मासे उत्पन्न होकर आत्माही में लीन होजाते हैं

महदादीनि भूतानि समाप्यैवं सदैवहि।
मृदुद्रव्येषु तीक्ष्णेषु गुडेषु कटुकेषु च ॥ ८ ॥

जैसे जलमें बबूला पैदा होते हैं जलही में मिलजाते हैं;इसी तरह महत् तत्वसे आदि लेकर प्राणी पैदा होकर परमेश्वरमें लीन होजाते हैं ॥ ८ ॥

कटुत्वं चैव शैत्यत्वं मृदुत्वं च यथा जले।
प्रकृतिः पुरुषस्तद्वदभिन्नंप्रतिभाति मे ॥ ९ ॥

कोमल पदार्थ तीखेपदार्थ गुड़ और कड़वी वस्तु इनमें

कडुआपन, चञ्चलता और कोमलता जल में पतलापन जैसे वर्त्तमान है उससे अलग नहीं है इसी तरह प्रकृति और पुरुष अलग नहींहै, यह मुझको मालूम होताहै ९॥

सर्वाख्यारहितं यद्यत्सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं परम्।
मनोबुद्धीन्द्रियातीतमकलंकं जगत्पतिम्१०।
ईदृशं सहजं यत्र अहं तत्र कथं भवे।
त्वमेव हि कथं तत्र कथं तत्र चराचरम्॥११॥

परमात्मा सर्व नाम से रहित है सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, परे है,मन, बुद्धि और इन्द्रिय जहां नहीं पहुँच सक्के हैं, कलङ्क रहित है, जगत का पति है, ॥ १० ॥ जिस में ऐसे गुण स्वाभाविक ही हैं, वहां मैं किस तरह से हूँ, वहां तू कैसे है, और उसमें चराचर जगत कैसे है? ११॥

गगनोपमं तु यत्प्रोक्तं तदेवगगनोपमम्।
चैतन्यं दोषहीनं च सर्वज्ञं पूर्णमेव च ॥१२॥

जो आकाश के समान कहा गया है वह तो आकाश के समान ही है चैतन्य स्वरूप है, निर्दोष है, सर्वज्ञ है, पूर्ण है ॥ १२ ॥

पृथिव्यां चरितं नैव मारुते न च वाहितम्।
वारिणा पिहितं नैव तेजोमध्ये व्यवस्थितम्१३

वह पृथ्वी में चलता नहीं है, हवा में उडता नहीं है, जल से ढका नहीं है, तेज में स्थित है ॥ १३ ॥

T

आकाशं तेन संव्याप्तं न तद्व्याप्तं च केनचित् ।
सबाह्याभ्यन्तरं तिष्ठत्यविच्छिन्नं निरन्तरम् १४

उस से आकाश व्याप्त है वह किसी से व्याप्त नहीं है वह बाहर और भीतर ठहरता है अखण्ड है और नित्य है ॥ १४ ॥

सूक्ष्मत्वात्तदृश्यत्वान्निर्गुणत्वाच्च योगिभिः ।
आलम्बनादि यत्प्रोक्तं क्रमादालम्बनं भवेत् १५

सूक्ष्म होने से, अदृश्य होने से, और निर्गुण होने से, योगियों ने आलम्बन आदि जो कहे हैं इस प्रकार ध्यान करे ऐसे प्राणायाम करे, ये आलम्बन क्रम से होता है १५

सतताऽभ्यासयुक्तस्तु निरालम्बो यदा भवेत् ।
तल्लयाल्लीयते नान्तर्गुणदोषविवर्जितः ॥ १६ ॥

निरन्तर अभ्यास करते करते जब योगी ध्यानादिक आलम्बनों से रहित होजाता है तब उस आलम्बन का लय होजाता है तब वह गुण दोषादि से विवर्जित हो, उस परमात्मा में लीन होकर तद्रूप होजाता है ॥ १६ ॥

विषविश्वस्य रौद्रस्य महामूर्छाप्रदस्य च ।
एकमेव विनाशाय ह्यमोघं सहजामृतम् ॥ १७ ॥

मोह और मूर्छा को देनेवाला जो भयंकर विष रूपी विश्व है उसको नाश करने के लिये एक ही अनमोल सहज अमृत है ॥ १७ ॥

भावगम्यं निराकारं साकारं दृष्टिगोचरम्।
भावाभावविनिर्मुक्तमन्तरालं तदुच्यते ॥१८॥

निराकार जो पदार्थ है वह भावगम्य है, अर्थात् हृदय में भावना द्वाराही जाना जाता है और साकार आंखों से दिखाई देता है, परन्तु भाव और अभाव इनसे जो अलग है उसको अन्तराल कहते हैं ॥ १८ ॥

बाह्यभावं भवेद्विश्वमन्तः प्रकृतिरुच्यते।
अन्तरादन्तरं ज्ञेयं नालिकेरफलाम्बुवत्॥१९॥

बाहर की तरफ संसार है, भीतर माया है, और उस सेभी भीतर परमात्मा जानने योग्य है, जैसे नारियल तो विश्व है उसके भीतर गोला है वह माया है गोला के भीतर जो पानी है वह परमात्मा का रूप है ॥ १९ ॥

भ्रान्तिज्ञानं स्थितं बाह्ये सम्यग्ज्ञानं च मध्यगम्
मध्यान्मध्यतरं ज्ञेयं नालिकेरफलाम्बुवत्२०।

भ्रांति ज्ञान बाहर स्थित है अच्छा ज्ञान बीचमें है उसके भी मध्यमें नारियलके जल की तरह वह चैतन्यहै २०

पौर्णमास्यां यथा चन्द्र एक एवातिनिर्मलः।
तेन तत्सदृशं पश्येद्द्विधादृष्टिर्विपर्ययः॥२१॥

पूर्णमासी में जैसे एक चन्द्रमा ही अति निर्मल है वैसेही ईश्वर को देखें! और भेद बुद्धि से देखना है, वह आदमी की दृष्टि का फेर है ॥ २१ ॥

अनेनैव प्रकारेण बुद्धिभेदो न सर्वगः ।
दाता च धीरतामेति गीयते नामकोटिभिः२२

इसी प्रकार से बुद्धि का भेद सब में नहीं है जैसे दाता धीरज को प्राप्त होता है और उसका यश फैल जाता है इसी तरह परमात्मा का यश फैला हुआ है ॥ २२ ॥

गुरुप्रज्ञाप्रसादेन मूर्खो वा यदि पण्डितः ।
यस्तु संबुध्यते तत्त्वं विरक्तो भवसागरात् २३

गुरु और बुद्धि इनकी कृपासे मूर्खहो अथवा पंडित जो तत्व को जानलेता है वह भवसागर से छूट जाता है२३

रागद्वेषविनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः ।
दृढबोधश्च धीरश्च स गच्छेत्परमं पदम् ॥२४॥

राग और द्वेष से जो अलगहो सब प्राणियोंका हि कैर, दृढ बोधहो, धीरहो, वह परम पदको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

घटेभिन्नं घटाकाशं आकाशे लीयते तथा ।
देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि।२५

घडे के फूटने पर घडेका आकाश जैसे बडे आका में लीन होजाता है इसी तरह योगी देहके त्यागने अपने रूप परमात्मा में लीन होजाता है ॥ २२ ॥

उक्तेयं कर्मयुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः

न चोक्ता योग युक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः

जिनने कर्म छोड़दिये हैं उनकी यह गति कही है जो अंतसमय बुद्धि होजातीहै वही गति होती है॥२६॥

या गतिःकर्मयुक्तानां सा च वागिंद्रियाद्वदेत्।
योगिनां या गतिःक्वापिह्यकथ्याभवतोर्जिता२७

कर्म युक्तोंकी जो गति है वह वाणी और इन्द्रियों से होती है योगियोंकी जो गति है वह कभी कहने में नहीं आसकती और वह आपसे बढीहुई है ॥ २७ ॥

एवं ज्ञात्वा त्वमुं मार्गं योगिनां नैव कल्पितम्।
विकल्पवर्जनं तेषां स्वयं सिद्धिःप्रवर्तते॥२८॥

जो कल्पना नहीं कियागया है और विकल्पसे वर्जित है ऐसे योगियों के इस मार्गको जानकर उनकी सिद्धि आपही होजाती है ॥ २८ ॥

तीर्थे वान्त्यजगेहे वा यत्र कुत्र मृतोऽपि वा।
न योगी पश्यते गर्भं परे ब्रह्मणि लीयते।२९॥

तीर्थ में अथवा शूद्रके घरमें जहां कहीं योगी मरजाय वह माताके गर्भ में नहीं आता है परब्रह्म में लीन होजाता है ॥ २९ ॥

सहजमजमचिन्त्यं यस्तु पश्येत्स्वरूपं।
घटवि यदि यथेष्टं लिप्यते नैव दोषैः॥

सकृदपि तदभावात्कर्म किंचिन्न कुर्यात्त-
दपि न च विबद्धः संयमी वा तपस्वी ॥ ३० ॥

स्वाभाविक, अजन्मा और जो विचार करनेमें न आवै ऐसे स्वरूपको जो देखै और अच्छी तरह चेष्टाकरै वह दोषों से लिप्त नहीं होता है योगी हो अथवा तपस्वी उसके बिना कुछ काम न करै वह फिर बंधनको प्राप्त नहीं होता है ॥ ३० ॥

निरामयं निष्प्रतिमं निराकृतिं ।
निराश्रयं निर्वपुषं निराशिषम् ॥
निर्द्वन्द्वनिर्मोहमलुप्तशक्तिकं ।
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥ ३१ ॥

जिस में कोई रोग नहीं है जिसकी प्रतिमा नहीं है स्वरूप नहीं है कोई आश्रय नहीं है जिसके कोई अंग नहीं है जिस के सुखनहीं हैं और सुख दुख नहीं हैं मोह रहित, सर्व शक्तिमान,नित्य, ऐसे आत्माको प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

वेदो न दीक्षा न च मण्डलक्रिया ।
गुरुर्नशिष्या न च यत्रसंपदः ॥
मुद्रादिकंचापि न यत्र भासते ।
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ।३२।

जिसके बीचमें न वेद, न दीक्षा, न मंडलक्रिया, न गुरु न शिष्य न यंत्र न मुद्रादिक प्रकाश करते हैं ऐसे नित्य ईश्वर आत्माको योगी प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

न शांभवं शाक्तिकमानवं न वा।
पिण्डं च रूपं च पदादिकं न वा ॥
आरम्भनिष्पत्तिघटादिकं च नो।
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३३॥

न तौ वह शिवका स्वरूप है न वह शाक्त है न मनुष्य है न पिंड है न रूप है न चरण से आदि लेकर उसके शरीर है न तौ उसका आदिहै न अंत है न घडे से आदि लेकर कोई वस्तु है ऐसे निरंतर ईश्वर आत्माको योगी प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

यस्य स्वरूपात्सचराचरं जगत।
उपद्यत तिष्ठति लीयतेऽपि वा ॥
पयोविकारादिव फेनबुद्बुदास्त-
मीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३४॥

जिसके स्वरूपसे चराचर जगत् पैदा होता है, स्थित होता है, और लीन होजाता है जैसे कि जलसे झाग और बबूला पैदा होते हैं और उसीमें लीन होजाते हैं उस नित्य ईश्वर आत्माको योगी प्राप्त होता है ॥३४॥

नासा निरोधो न च दृष्टिरासनं ।
बोधोऽप्यबोधोऽपि न यत्र भासते ॥
नाडीप्रचारोऽपि न यत्र किंचित् ।
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३५॥

न तो उसमें नाक का रोकना है न दृष्टि है न वह बैठता है, बोध और अबोध भी जिसमें प्रकाश नहीं करता है जिसमें नाडियां नहीं चलती हैं उस नित्य ईश्वर आत्माको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

नानात्वमेकत्वमुभत्वमन्यता ।
अणुत्वदीर्घत्वमहत्त्वशून्यता ॥
मानत्वमेयत्वसमत्ववर्जितं ।
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३६॥

उसमें अनेकपना नहीं हैं, एकत्व नहीं हैं, भेद भी नहीं हैं, छोटापन, लम्बापन बड़ापन ये भी उसमें नहीं हैं, प्रमाण, अप्रमाण, समता, इनसे वार्जित है, उस नित्य ईश्वर आत्मा को योगी प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

सुसंयमी वा यदि वा न संयमी ।
सुसंग्रही वा यदि वा नसंग्रही ॥
निष्कर्मको वा यदि वा सकर्मकः ।
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ॥३७॥

अच्छी तरह जितेन्द्री हो अथवा न हो अच्छी तरह संग्रह करने वाला हो अथवा न हो कर्म करता हो अथवा न करता हो सर्वव्यापी जो ईश्वर आत्मा है उसको प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

मनो न बुद्धिर्नशरीरमिंद्रियं ।
तन्मात्रभूतानि न भूत पञ्चकम् ।
अहंकृतिश्चापि वियत्स्वरूपकं ॥
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम् ।३८॥

न उसमें मन है, न बुद्धि है, न शरीर है, न इन्द्रिय है न पंचभूत है, न इन्द्रियों की मात्रा है, अहँकार भी नहीं हैं, शून्य रूप है, वह ईश्वर नित्य आत्मा है, उसको जीव प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

विधौ निरोधे परमात्मतां गते ।
न योगिनश्चेतसि भेदवर्जिते ॥
शौचं न वाशौचमलिङ्गभावना ।
सर्वं विधेयं यदि वा निषिध्यते॥३९॥

विधि, आज्ञा, निरोध, रोकना ये जब परमात्मा को प्राप्त होजाय तब भेद रहित योगी के चित्त में न शौच है न अशुद्ध है और चिन्हरहित जो पदार्थ है उसकी भावना है और न विधि निषेध रहता है ॥ ३९ ॥

मनो वचो यत्र न शक्तमीरितुं ।

नूनं कथं यत्र गुरूपदेशता ॥
इमां कथामुक्तवतो गुरोस्तद्‌ ।
युक्तस्य तत्त्वं हि समं प्रकाशते॥४०॥

जिसमें मन और बचन नहीं पहुँच सक्ते हैं उसमें निश्चय गुरू को उपदेश कैसे बन सक्ता है, इस कथा को कहनेवाला जो योग्य गुरू है उसको यह तत्व समान प्रकाशित होता है ॥ ४० ॥

इतिश्री दत्तात्रेय विरचितायां अवधूतगीतायामात्म संवित्युपदेशो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

अवधूत उवाच ।

गुणविगुणविभागो वर्तते नैव किंचित्‌ ।
रतिविरतिविहीनं निर्मलं निष्प्रपंचम्‌॥
गुणविगुणविहीनं व्यापकं विश्वरूपं ।
कथमहमिह वन्दे व्योमरूपं शिवं वै ।१।

अवधूत बोला । जिसमें गुण और अवगुण का विभाग नहीं हैं जिसमें कुछ प्रीति और द्वेष नहीं हैं वह शुद्ध मायाहै से रहित है गुण और अवगुणसे हीन है व्यापक

है सब विश्व उसीका रूप है ऐसे शून्यरूप शिवको किस प्रकार बंदना करूं ॥ १ ॥

श्वेतादिवर्णरहितो नियतं शिवश्च ।
कार्यं हि कारणमिदं हि परं शिवश्च ॥
एवं विकल्परहितोऽहमलं शिवश्च ।
स्वात्मानमात्मनि सुमित्रकथं नमामि२

सफेद से आदि लेकर उस में रंग नहीं हैं नित्य कल्याण रूप है कार्य कारण रूप है शिव है इस प्रकार भेद रहित में अत्यंत शिवहूं हे मित्र ! अपने आत्माके बीच में आत्माको किस तरह नमस्कार करूं ॥ २ ॥

निर्मूलमूलरहितो हि सदोदितोऽहं ।
निर्धूमधूमरहितो हि सदोदितोऽहम् ॥
निर्दीपदीपरहितो हि सदोदितोऽहं ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥३॥

जो मूल नहीं है और मूल दिखाई देता है उससे मैं अलगहूँ सदा उदय हूँ जो धूंआ नहीं है और धूंआ दिखाई देता है उस से अलगहूं सदा उदय हूं ज्ञानामृतरूप हूं आशाके समान हूं समर हूं ॥ ३ ॥

निष्कामकाममिहनाम कथं वदामि ।
निःसंगसंगमिहनाम कथं वदामि ॥
निःसारसाररहितं च कथं वदामि ।

ज्ञानामृत समरसं गगनो पमोऽहम्॥४।

कामना रहित जो काम है उसका वर्णन कैसे करूँ, निःसंग को संगता में किस प्रकार कहूं निःसार को सार-राहितत्व कैसे कहूं मैं ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ, समान रस हूँ, आकाश के समान हूँ ॥ ४ ॥

अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि ।
द्वैतस्वरूपमखिलं हि कथं वदामि ॥
नित्यं त्वनित्यमखिलं हि कथं वदामि ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥५॥

वह सम्पूर्ण अद्वैत रूप है उसका वर्णन कैसे करूँ, सम्पूर्ण द्वैत स्वरूप है निश्चय करके कैसे वर्णन करूँ, सम्पूर्ण नित्य और अनित्य रूप है कैसे वर्णन करूँ, मैं ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ, समान रस हूँ, आकाश के समान हूँ ॥ ९ ॥

स्थूलं हि नो नहि कृशं न गतागतं हि।
आद्यन्तमध्यरहितं न परापरं हि ॥
सत्यंवदामि खलु वै परमार्थतत्त्वं ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥६॥

न तो वह स्थूल है, न कृश है,न जाता है न आता है, आद, अन्त ,मध्य इनसे रहित है उसके पहिला पिछल

नहीं है में परमार्थ तत्व को निश्चय सत्य कहता हूँ, मैं ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ, समान रस हूँ, आकाश के समान हूँ ॥ ६ ॥

संविद्धि सर्वकरणानि नभोनिभानि ।
संविद्धि सर्वविषयांश्च नभोनिभांश्च ॥
संविद्धि चैकममलं न हि बन्धमुक्तं ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥७॥

सब इन्द्रियों को आकाश के समान न समझो, सब विषयों को आकाश के समान समझो, निर्मल एक है बँधन उसमें है नहीं सो जान. मैं अमृत स्वरूप हूँ, समान रस हूँ, आकाश के समान हूँ ॥ ७ ॥

दुर्बोधबोधगहनो न भवामि तात ।
दुर्लक्ष्यलक्ष्यगहनो न भवामि तात ॥
आसन्नरूपगहनो न भवामि तात ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥८॥

खोटा ज्ञान मुझको नहीं है, कठिन से जो देखने में आवे ऐसा भी नहीं हूं, हे तात! समीप में प्राप्त होनेवाला जिसका रूप है ऐसा भी नहीं हूँ, हे तात! मैं ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ, ८॥

निष्कर्मकर्मदहनो ज्वलनो भवामि ।
निर्दुःखदुःखदहनो ज्वलनो भवामि ॥

T

निर्देहदेहदहनो ज्वलनो भवामि ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥

जो कर्म नहीं हैं और देखने में कर्म मालुम होता हैं उनके जलानेवाला में अग्नि हूँ सुख और दुःख इनको जलानेवाला में अग्नि हूँ जो देह नहीं हैं और देह सरीके मालुम होते हैं उनको जलानेवाला में अग्नि हूँ ज्ञान और अमृत रूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ ॥ ९ ॥

निष्पापपापदहनो हि हुताशनोऽहं ।
निर्धर्मधर्मदहनो हि हुताशनोऽहम् ॥
निर्बन्धबन्धदहनो हि हुताशनोऽहं ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१०॥

पाप और पुण्य इनको जलानेवाला अग्नि हूँ, जो धर्म नहीं है और धर्म सरीके मालुम होते हैं उनके जलानेवाला में निश्चय अग्नि हूँ मोक्ष और बन्धन इनके जलानेवाला में निश्चय अग्नि हूँ ज्ञान और अमृत रूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ ॥ १० ॥

निर्भावभावरहितो न भवामि वत्स ।
निर्योगयोगरहितो न भवामि वत्स ॥
निश्चित्तचित्तरहितो न भवामि वत्स ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥११॥

हे वत्स ! मैं भाव और अभाव से रहित नहीं हूँ, हे वत्स ! मैं नियोग और योग से रहित नहीं हूँ, हे वत्स ! मैं चैतन्य और अचैतन्य से रहित नहीं हूँ, ज्ञान और अमृत रूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ ॥ ११ ॥

निर्मोहमोहपदवीति न मे विकल्पो ।
निःशोकशोकपदवीति न मे विकल्पः ॥
निर्लोभलोभपदवीति न मे विकल्पो ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ १२ ॥

वैर और प्रीति मुझमें नहीं है और भेद नहीं है सुख और दुःख नहीं हैं उदारता और लोभ ये मुझ में नहीं है भेद नहीं है मैं ज्ञान और अमृत रूप हूँ,समान हूँ,अकाश के समान हूँ ॥ १२ ॥

संसारसंततिलता न च मे कदाचित् ।
संतोषसंततिसुखे न च मे कदाचित् ॥
अज्ञानबन्धनमिदं न च मे कदाचि-
ज्ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ १३ ॥

मुझ में संसार की फैली हुई लता कभी नहीं है संतोष का विस्तार युक्त सुख मुझमें नहीं है ये अज्ञान का बँधन मुझ में कभी नहीं है मैं ज्ञान और अमृतरूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ ॥ १३ ॥

संसारसंततिरजो न च मे विकारः।
संतापसंततितमो न च मे विकारः॥
सत्त्वं स्वधर्मजनकं न च मे विकारः।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१४

संसार के बिस्तार की रज मेरे बीच में नहीं है न उसका बिकार है न मेरे दुख का तमोगुण है न उसका विकार है अपने धर्म को पैदा करने वाला तमोगुण भी नहीं है न बिकार है, मैं ज्ञान और अमृतरूप हूं समान रस हूं आकाश के समान हूं॥ १४॥

संतापदुःखजनको न विधिःकदाचित्।
संतापयोगजनितं न मनःकदाचित्॥
यस्मादहंकृतिरियं न च मे कदाचि-
ज्ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१५

संताप और दुःखको पैदा करनेवाली विधि मुझमें नहीं है संताप और योग से पैदा हुआ मन भी कभी नहीं है क्योंकि मेरे कभी अहंकार नहीं है मैं ज्ञान और अमृतरूप हूं समान रस हूं आकाशके समान हूं॥ १५॥

निष्कम्पकम्पनिधनं न विकल्पकल्पं।
स्वप्नप्रबोधनिधनं न हिताहितं हि
निःसारसारनिधनं न चराचरं हि।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥१६

विकार रहित जो विकार है सो झूँठा है जो बिलक्षणता से रहित बिलक्षण है वह असत्य है यदि सत्य है तौ केवल आत्मा है हे मन? तू सबकी तरह क्यों रोता है १६ ॥

नो वेद्यवेदकमिदं न च हेतुतर्क्यं ।
वाचामगोचरमिदं न मनो न बुद्धिः ॥
एवं कथं हि भवतः कथयामि तत्त्वं ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥१७॥

यह वेद्य वा वेदक नहीं है कर्म वा कारण नहीं है, यह वाक्य से अगोचर है, मन और बुद्धि इसको नहीं पा सकते हैं, इस प्रकार में आत्मतत्व को किस तरह कह सकता हूँ, में ज्ञानामृत समरस और आकाश के समान हूँ ॥ १७ ॥

निर्भिन्नभिन्नरहितं परमार्थतत्त्वम् ।
अन्तर्बहिर्नहि कथं परमार्थतत्त्वम् ॥
प्राक्संभवं न च रतं न हि वस्तु किंचि-
ज्ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहं ॥१८॥

यह निर्भिन्न भेदरहित परमार्थ तत्व है, इसके भीतर बाहर कुछ नहीं है, प्राक्सँभवता नहीं है, लिप्तता नहीं है, इसके अतिरिक्त और कुछ बस्तु नहीं है, यह ज्ञानामृत समरस और आकाश के समान है ॥ १८ ॥

रागादिदोषरहितं त्वहमेव तत्त्वं।
दैवादिदोषरहितं त्वहमेव तत्त्वम् ॥
संसारशोकरहितं त्वहमेव तत्त्वम्।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहं ॥१९॥

अहंतत्व, रागादि दोषरहित, देवादि दोष रहित, संसार शोकरहित, अहंतत्व ज्ञानामृत समरस और गगनोपम हूँ॥ १९॥

स्थानत्रयं यदि च नेति कथं तुरीयं।
कालत्रयं यदि च नेति कथंदिशश्च ॥
शान्तं पदं हि परमं परमार्थतत्त्वं।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥२०॥

अहंतत्व सम्बन्ध में जाग्रत स्वप्न सुषुप्तावस्था स्थानत्रय नहीं है, तब तीसरा कैसे हो सकता है, अहंतत्व सम्बन्ध में कालत्रय नहीं है, तब सम्पूर्ण दिशा कैसे हो सकती है परमार्थ तत्व परम शांतिप्रद स्वरूप, ज्ञानामृत समरस और गगनोपम हूँ॥ २०॥

दीर्घो लघुः पुनरितीह न मे विभागो।
विस्तारसंकटमितीह न मे विभागः ॥
कोणं हि वर्तुलमितीह न मे विभागो।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥२१

मेरे दीर्घ और लघु बिभाग कुछ नहीं है, विस्तीर्ण और संकीर्ण ये विभाग भी नहीं हैं, कोण और गोल ये विभाग भी मेरे नहीं है, परन्तु में ज्ञानमृत, समरस और गगनोपम हूँ ॥ २१ ॥

मातापितादि तनयादि न मे कदाचि-
ज्जातं मृतं न च मनो न च मे कदाचित् ॥
निर्व्याकुलं स्थिरमिदं परमार्थतत्त्वं ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥२२॥

मेरे माता, पिता वा पुत्रादि कभी नहीं हुए, न मैंने कभी जन्म लिया न में मरा,मेरे कभी मन स्थिर है, यह परमार्थ तत्व व्याकुलता रहित, स्थिर है, में ज्ञानामृत, समरस और गगनोपम हूँ ॥ २२ ॥

शुद्धं विशुद्धमविचारमनन्तरूपं ।
निर्लेपलेपमविचारमनन्तरूपम् ॥
निष्खण्डखण्डमविचारमनन्तरूपम् ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥२३॥

में शुद्ध, विशुद्ध, अविचार्य और अनन्तरूप हूँ, में निर्लेप लेप अधिकतर अनन्त रूप हूँ. में निखण्ड खण्ड आविचार्य और अनन्तरूप हूँ, में ज्ञानामृत समरस और गगनोपम हूँ ॥ २३ ॥

ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्र संति।
स्वर्गादयो वसतयःकथमत्र संति॥
यद्येकरूपममलं परमार्थतत्त्वं।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥२४॥

जो वह परमार्थ तत्व एक रूप है निर्मल है, तो उसमें ब्रह्मादिक देवता कैसे हैं, स्वर्गादिक स्थान कैसे हैं, मैं ज्ञान और अमृत रूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ॥ २४॥

निर्नेति नेति विमलो हि कथं वदामि।
निःशेषशेषविमलो हि कथं वदामि॥
निर्लिङ्गलिंगविमलो हि कथं वदामि।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥२५॥

अस्ति और नास्ति इनसे निश्चय शुद्ध है उसका वर्णन कैसे करूँ, अशेष और शेष इनसे शुद्ध है उसका वर्णन कैसे करूँ, चिन्ह और अचिन्ह इनसे वह निश्चय शुद्ध है उसका वर्णन कैसे करूँ, मैं ज्ञान और अमृत रूप हूँ, समानरस हूँ आकाश के समान हूँ॥ २५॥

निष्कर्मकर्मपरमं सततं करोमि।
निःसंगसंगरहितं परमं विनोदम्॥
निर्देहदेहरहितं सततं विनोदं।

T

ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥२६॥

कर्म और अकर्म इनको अच्छी तरह करता हूँ, संग और कुसंग इन से रहित हूँ, ये परम आनन्द है, देह और बिदेह से रहित हूँ, ये बडा आनन्द है, मैं ज्ञान और अमृतरूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ ॥ २६ ॥

मायाप्रपंचरचना न च मे विकारो ।
कौटिल्यदम्भरचना न च मे विकारः ॥
सत्यानृतेतिरचना न च मे विकारो ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥२७॥

न तो मेरे माया का प्रपञ्च है न विकार है न कुटिलता और न कपट है न उसका विकार है सत्य और असत्य नहीं है न विकार है, मैं ज्ञान और अमृत रूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ ॥ २७ ॥

संध्यादिकालरहितं न च मे वियोगो ।
ह्यन्तःप्रबोधरहितं बधिरो न मूकः ॥
एवं विकल्परहितं न च भावशुद्धं ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥२८॥

मैं सन्ध्यादि कालों से रहित हूँ, मेरा वियोग नहीं है भीतर मेरे ज्ञान है, न बहिरा हूँ, न गूँगा हूँ, इस प्रकार

विकल्प से रहित हूँ, भावना से शुद्ध नहीं हूँ, मैं ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ, समान रस हूँ, आकाश के समान हूँ॥ २८ ॥

निर्नाथनाथरहितं हि निराकुलं वै।
निश्चित्तचित्तविगतं हि निराकुलं वै॥
संविद्धि सर्वविगतं हि निराकुलं वै।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥२९॥

जो नाथ नहीं है नाथ सरीके मालुम होते हैं उनसे में अलग हूँ, व्याकुलता रहित हूँ, जो चैतन्य नहीं है और चैतन्य सरीका मालुम होताहै उनसे में अलग हूँ व्याकुल नहीं हूँ, सर्वव्यापी हूँ, सो जान, में ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ॥ २९ ॥

कान्तारमन्दिरमिदं हि कथं वदामि।
संसिद्धसंशयमिदं हि कथं वदामि॥
एवं निरन्तरसमं हि निराकुलं वै।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥३०॥

कान्तार मंदिर वा संसिद्ध संशय किस प्रकार कहूं, मैं निरन्तर सम निराकुल, ज्ञानामृत, समरस और आकाश के समानहू॥ ३० ॥

निर्जीवजीवरहितं सततं विभाति।

T

निर्बीजबीजरहितं सततं विभाति ॥
निर्वाणबन्धरहितं सततं विभाति ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥३१॥

वह ईश्वर जड़ और चेतन से रहित होकर निरन्तर प्रकाश करता है बन्धन और मोक्ष से रहित होकर निरन्तर प्रकाश करता है, मैं ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ ॥ ३१ ॥

संभूतिवर्जितमिदं सततं विभाति ।
संसारवर्जितमिदं सततं विभाति ॥
संहारवर्जितमिदं सततं विभाति ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥३२॥

यह ईश्वर विभूतियों से रहित प्रकाश करता है, यह निरन्तर संसार से वार्जित प्रकाश करता है यह निरन्तर प्रलय से रहित प्रकाश करता है, मैं ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ ॥ ३२ ॥

उल्लेखमात्रमपि ते न च नामरूपं ।
निर्भिन्नभिन्नमपि ते न हि वस्तु किंचित् ॥
निर्लज्ज मानस करोषि कथं विषादं ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥३३॥

T

तेरे नाम रूप लिखने मात्र के भी नहीं है, भेद और अभेद ये वस्तु तेरे कुछ नहीं है, हे निर्लज्ज! मानस। मन तू क्यों दुखी होता है, मैं ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ॥ ३२॥

किं नाम रोदिषि सखे न जरा न मृत्युः।
किं नाम रोदिषि सखे न च जन्मदुःखम्॥
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विकारो।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥३४॥

हे सखे! तू क्यों रुदन करता है, न तेरे बुढापा है, न मृत्यु है, हे सखे; तू क्यों रुदन करता है, न तेरे जन्म है न दुःख है, हे सखे, तू क्यों रोता है तेरे विकार नहीं है, मैं ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ॥ ३४॥

किं नाम रोदिषि सखे न च ते स्वरूपं।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विरूपम्॥
किं नाम रोदिषि सखे न च ते वयांसि।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥३५॥

हे सखे! तू क्यों रोता है तेरे स्वरूप नहीं है, हे सखे! तू क्यों रोता है तेरे बुरा रूप नहीं है, हे सखे! तू क्यों रोता है तेरे अवस्था नहीं है, मैं ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ॥ ३५॥

किं नाम रोदिषि सखे न च ते वयांसि।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते मनांसि॥
किं नाम रोदिषि सखे न तवेन्द्रियाणि।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥३६॥

हे सखे! क्यों रोता है तेरे अवस्था नहीं है, हे सखे! क्यों रोता है, तेरे मन नहीं है, हे सखे क्यों रोता है, तेरें इन्द्रियां नहीं है, मैं ज्ञान और अमृत स्वरूप हूँ समान रस हूँ आकाश के समान हूँ॥ ३६॥

किं नाम रोदिषि सखे न च तेऽस्ति कामः।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते प्रलोभः॥
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विमोहो।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥३७॥

हे सखे! क्यों रोता है तेरे काम नहीं है, हे सखे! क्यों रोताहै तेरें लोभ नहीं है,हे सखे? क्यों रोता है तेरे मोह नहीं है, मैं ज्ञान और अमृत रूपहूं॥ ३७॥

ऐश्वर्य मिच्छसि कथं न च ते धनानि।
ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते हि पत्नी॥
ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते ममेति।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥३८॥

तेरे धन नहीं हैं ऐश्वर्य की इच्छी क्यों करता है तेरें स्त्री नहीं है ऐश्वर्य की इच्छा क्यों करता है तेरें ममता नहीं है ऐश्वर्य की इच्छा क्यों करता है मैं ज्ञान और अमृत रूपहूं ॥ ३८ ॥

लिंगप्रपंचजनुषी न च ते न मे च।
निर्लज्जमानसमिदं च विभाति भिन्नम् ॥
निर्भेदभेदरहितं न च ते न मे च।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥३९॥

हे निर्लज्ज ! लिंग को प्रकट करने वाला शरीर न तेरे है न मेरें ये जो भेद दीखता है यह मानासिक है भेद और अभेद से रहित तेरें है न मेरें मैं ज्ञान और अमृत रूपहूं ॥ ३९ ॥

नो वाणुमात्रमपि ते हि विरागरूपं।
नो वाणुमात्रमपि ते हि सरागरूपम् ॥
नो वाणुमात्रमपि ते हि सकामरूपं।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥४०॥

नतौ तेरें कुछभी वैराग्य है न तेरें कुछभी विषय लालसा है, न तेरे कुछभी कामना है मैं ज्ञान औ अमृत रूपहूं ॥ ४० ॥

ध्याता न ते हि हृदये न च ते समाधि–

T

ध्यानं न ते हि हृदये न बहिः प्रदेशः ॥
ध्येयं न चेति हृदये न हि वस्तु कालो ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥४१॥

न तेरे हृदय में कोई ध्यान करने वाला है न तेरे समाधि है न तेरे हृदय में ध्यान है न बाहरका प्रदेश है तेरे हृदय में ध्यान करने लायक वस्तु नहीं है न वस्तु है, न काल है मैं ज्ञान और अमृत रूपहूं ॥ ४१ ॥

यत्सारभूतमखिलं कथितं मया ते ।
न त्वं न मे न महतो न गुरुर्नशिष्यः ॥
स्वच्छन्दरूपसहजं परमार्थतत्त्वं ।
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥४२॥

मैंनें जो सम्पूर्ण सारांश तुझसे कहा है वह न तो तू है न मैंहूं न बडा है न गुरूहै न शिष्य है वह परमार्थ तत्व अपनी इच्छानुकूल है और स्वाभाविक है मैं ज्ञान और अमृत रूपहूं ॥ ४२ ॥

कथमिह परमार्थं तत्त्वमानन्दरूपं ।
कथमिह परमार्थंनैवमानन्दरूपम् ॥
कथमिहपरमार्थं ज्ञानविज्ञानरूपं ।
यदि परमहमेकं वर्तते व्योमरूपम् ॥४३॥

तत्व और आनंद रूपी यहां परमार्थ कैसें है और आनन्दरहित परमार्थ कैसें है ज्ञान और विज्ञान रूपी परमार्थ कैसे है क्यों कि मैं केवल एक हूं और शून्य रूप हूं ॥ ४३ ॥

दहनपवनहीनं विद्ध विज्ञानमेकम् ।
अवनिजलविहीनं विद्धि विज्ञानरूपम् ॥
समगमनविहीनं विद्धि विज्ञानमेकं ।
गगनमिव विशालं विद्धि विज्ञानमेकम् ४४

अग्नि और पवम इनसे हीन एक विज्ञान है सो जान पृथ्वी और जलसे हीन ज्ञान एक है सो जान, वह समान है और चलता फिरता नहीं है सो जान वह विज्ञान एक है और आकाश की तरह विशाल है सो जान ॥ ४४ ॥

न शून्यरूपं न विशून्यरूपम् ।
न शुद्धरूपं न विशुद्धरूपम् ॥
रूपं विरूपं न भवामि किंचित् ।
स्वरूपरूपं परमार्थतत्त्वम् ॥ ४५ ॥

न तौ वह शून्यरूप है न विशेप शून्य रूप है न शुद्ध रूप है विशुद्ध रूप है में रूपवान हूं न कुरूप हूं में अपना ही रूपहूं और परमार्थ तत्व हूं ॥ ४५ ॥

मुञ्च मुञ्च हि संसारं त्यागंमुञ्च हि सर्वथा ।

त्यागात्यागाविषंशुद्धममृतं सहजं ध्रुवम् ॥४६॥

निश्चय संसार को छोडदे २ सब ओर से निश्चय त्यागको छोडदे त्यागकरना और लेना ये विषहै यह तत्व शुद्ध है अमृत है स्वाभाविक नित्य है ॥

इतिश्री दत्तात्रेयविरचितायां अवधूतगीतायामात्मसंवित्तु-पदेशो नामतृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ॐ चतुर्थोऽध्यायः ॐ

श्रीदत्त उवाच ।

नावाहनं नव बिसर्जनं वा ।
पुष्पाणि पत्राणि कथं भवन्ति ॥
ध्यानानि मन्त्राणि कथं भवन्ति ।
समासमं चैव शिवार्चनं च ॥ १ ॥

श्रीदत्त बोला न आवाहनहै न विसर्जन है पुष्प और पत्र कैसे हैं ध्यान और मंत्र कैसेहैं सम और विषम कैसे हैं शिवका पूजन कैसेहै ॥ १ ॥

न केवलं बन्धविबन्धमुक्तो
न केवलं शुद्धविशुद्धमुक्तः ।

न केवलं योगवियोग मुक्तः
स वै विमुक्तो गगनोपमोऽहम् ॥ २ ॥

वह केवल बंधन और मोक्षसे ही अलग नहीं है न केवल शुद्ध अशुद्धसे ही मुक्त है न केवल संयोग वियोग से ही मुक्त है वह निश्चय सबसे छूटा हुआ है मैं आकाश के समान हूं ॥ २ ॥

संजायते सर्वमिदं हि तथ्यं ।
संजायते सर्वमिदं वितथ्यम् ॥
एवं विकल्पो मम नैव जातः ।
स्वरूपनिर्वाण मनामयोऽहम् ॥ ३ ॥

जन्मलेता है वह सब सत्य है जन्मलेता है वह सब झूंठ है इस प्रकार भेद मेरे नहीं है मैं मोक्ष स्वरूप हूं और निरोग हूं ॥ ३ ॥

न साञ्जनं चैव निरञ्जनं वा ।
नचान्तरं वापि निरन्तरं वा ॥
अन्तर्विभिन्नं नहि मे विभाति ।
स्वरूपनिर्वाण मनामयोऽहम् ॥ ४ ॥

नतौ वह मायासे युक्त है न मायासे अलग है न उ में भेद है न अभेद है भीतर अलग मुझको नहीं दीखता मैं मोक्ष स्वरूप हूं और निरोगहूं ॥ ४ ॥

अबोधबोधो मम नैव जातो ।
बोधस्वरूपं मम नैव जातम् ॥
निर्बोधबोधं च कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ५ ॥

अज्ञान और ज्ञान मेरे बीचमें पैदा नहीं हुए ज्ञान स्वरूप मुझमें पैदा नहीं हुआ जिसमें ज्ञान नहीं है ऐसे ज्ञान को कैसे कहूं मैं मोक्ष स्वरूप और निरोगहूं ॥ ५ ॥

न धर्मयुक्तो न च पापयुक्तो ।
न बन्धयुक्तो न च मोक्षयुक्तः ॥
युक्तं त्वयुक्तं न च मे विभाति ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ६ ॥

नतौ मेरे धर्म है न अधर्महै न बंधनहै न मोक्षहै न योग्य और अयोग्य मेरे बीचमें प्रकाश नहीं करते हैं मैं मोक्ष स्वरूपहूं और निरोगहूं ॥ ६ ॥

परापरं वा न च मे कदाचित् ।
मध्यस्थभावो हि न चारिमित्रम् ॥
हिताहितं चापि कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ७ ॥

पहिला और पिछला मेरे कभी नहीं है न बीचका

T

भाव है न शत्रु और मित्रहै हित और अहित कैसे कहूं मैं मोक्षरूपहूं और निरोग हूं ॥ ७ ॥

नोपासको नैवमुपास्यरूपं ।
न चोपदेशो न च मे क्रिया च ॥
संवित्स्वरूपं च कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ८ ॥

न तौ उपासना करनेवाला है न उपासना के योग्यरूप है न उपदेश है न क्रियाहै ज्ञानस्वरूप का कैसे वर्णनकरूं मैं मोक्षरूप हूं और निरोगहूं ॥ ८ ॥

नो व्यापकं व्याप्यमिहास्ति किंचित् ।
न चालयं वापि निरालयं वा ॥
अशून्यशून्यं च कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ९ ॥

न तौ यहां कुछ व्यापकहै न व्यापक होनेके योग्य कुछहै न उपदेशहै न क्रिया है फिर उस ज्ञानस्वरूप को कैसे कहूं मैं मोक्ष स्वरूप हूं और निरोगहूं ॥ ९ ॥

न ग्राहको ग्राहकमेव किंचिन्न ।
कारणं वा मम नैव कार्यम् ॥
अचिन्त्यचिन्त्यं च कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १० ॥

T

नतौ कोई उसको पकडनेवाला है न वह पकडने योग्य है न मेरे कुछ कारण है न कार्यहै वह ईश्वर विचार करने में नहीं आसकता है उसकारूप कैसे कहूं में मोक्षरूपहूं और निरोग हूं ॥ १० ॥

न भेदकं वापि न चैव भेद्यं ।
न वेदकं वा मम नैव वेद्यम् ॥
गतागतं तात कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहमम् ॥ ११ ॥

न भेद करनेवाला है न भेद के योग्यहै न जाननेवाला है न जानने में आसकताहै न जाताहै न आताहै हे तात! उसका कैसे वर्णनकरूं मैं मोक्षस्वरूपहूं और निरोगहूं ११।

न चास्ति देहो न च मे विदेहो ।
बुद्धिर्मनो मे न हि चेन्द्रियाणि ॥
रागो विरागश्च कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १२ ॥

न मेरे देहहै न विदेहहै न बुद्धि और मनहै न इंन्द्रियां हैं राग और विरागका कैसे वर्णन करूं मैं मोक्ष स्वरूप हूं और निरोग हूं ॥ १२ ॥

उल्लेखमात्रं नहि भिन्नमुच्चै-
रुल्लेखमात्रं न तिरोहितं वै ॥

समासमं मित्र कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १३ ॥

लिखने मात्रको भी वह किसीसे अलग नहीं है लिखने मात्रको भी वह छिपा नहींहै हे मित्र ! सम विषम कैसे कहूं मैं मोक्ष स्वरूपहूं और निरोगहूं॥ १३॥

जितेन्द्रियोऽहं त्वजितेन्द्रियो वा ।
न संयमो मे नियमो न जातः ॥
जयाजयौ मित्र कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १४ ॥

मैं जितेन्द्रिय हूं और अजितेन्द्रिय हूं न मेरे संयमहै न नियमहै हे मित्र ! जीतना और हारना मेरे नहींहै उसका वर्णन कैसेकरूं मैं मोक्ष स्वरूपहूं और निरोगहूं ॥ १४ ॥

अमूर्तमूर्तिर्न च मे कदाचिदा-
द्यन्तमध्यं न च मे कदाचित् ॥
बलाबलं मित्र कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १५ ॥

झूंठी मूर्ति मेरे कभी नहीं है आदि अन्त्य मध्य भी मेरे कभी नहींहै हे मित्र ! बल और अबलको कैसे कहूं मैं मोक्ष स्वरूपहूं और निरोगहूं ॥ १५ ॥

मृतामृतं वापि विषाविषं च ।

संजायते तात न मे कदाचित् ॥
अशुद्धशुद्धं च कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाण मनामयोऽहम् ॥ १६ ॥

हे तात ! मरना और न मरना विष और अविष ये मेरें कभी पैदा नहीं होतेहैं अशुद्ध और शुद्ध नहींहै इसका वर्णन कैसें करूं में मोक्ष स्वरूपहूं और निरोगहूं ॥ १६ ॥

स्वप्नः प्रबोधो न च योगमुद्रा ।
नक्तं दिवा वापि न मे कदाचित् ॥
अतुर्यतुर्यं च कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाण मनामयोऽहम् ॥ १७ ॥

सोना और जागना ये मेरे नहींहै न योगमुद्रा है रात और दिन मेरे कभी नहींहै सुषुप्ति और समाधिका वर्णन कैसे कहूं में मोक्षरूप हूं और निरोगहूं ॥ १७ ॥

संविद्धि मां सर्वविसर्वमुक्तं ।
माया विमाया न च मे कदाचित् ॥
संध्यादिकं कर्म कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाण मनामयोऽहम् ॥ १८ ॥

सब और अधूरा ये मुझमें नहीं है माया और अमाया मुझमें कभी नहींहै संध्यासे आदि लेकर काल नहींहै कर्म नहींहै फिर कैसे कहूँ में मोक्ष स्वरूपहूं और निरोगहूं १८।

T

संविद्धि मां सर्वसमाधियुक्तं ।
संविद्धि मां लक्ष्यविलक्ष्यमुक्तम् ॥
योगं वियोगं च कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाण मनामयोऽहम् ॥ १९ ॥

सब समाधियोंसे युक्त मुझको जान जो देखलिया जाय और जो देखनेमें न आवै इनसे अलग मुझको जान योग और वियोग कैसे कहूं मैं मोक्ष.स्वरूपहूं और निरोगहूं १९

मूर्खोऽपि नाहं न च पण्डितोऽहं ।
मौनं विमौनं न च मे कदाचित् ॥
तर्कं वितर्कं च कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाण मनामयोऽहम् ॥ २० ॥

न मैं मूर्खहूं न पंडितहूं मौन और विशेष मौन ये मेरे कभी नहींहैं तर्क और कुतर्क भी नहीं है फिर उसका कैसे वर्णन करूं मैं मोक्ष स्वरूपहूं और निरोगहूं ॥ २० ॥

पिता च माता च कुलं न जाति-
र्जन्मादिमृत्युर्न च मे कदाचित ॥
स्नेहं विमोहं च कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाण मनामयोऽहम् ॥ २१ ॥

न मेरे मातोहै न पिताहै कुल है न जातिहै मेरे कभी

जन्म मृत्यु नहींहैं स्नेह और मोह नहींहैं फिर कैसे वर्णन करूं मैं मोक्ष स्वरूपहूं और निरोगहूं ॥ २१ ॥

अस्तं गतो नैव सदोदितोऽहं ।
तेजो वितेजो न च मे विभाति ॥
संध्यादिकं कर्म कथं वदामि ।
स्वरूपनिर्वाण मनामयोऽहम् ॥ २२ ॥

मेरा अस्त नहींहै सदा उदयहै तेज और अंधकार ये मुझमें प्रकाश करतेहैं सायंकाल प्रातःकाल आदि मेरे नहींहैं कर्म भी नहींहै फिर कैसे वर्णन करूं मैं मोक्षरूपहूं और निरोगहूं ॥ २२ ॥

असंशयं विद्धि निराकुलंमा-
मसंशयं विद्धि निरन्तरं माम् ॥
असंशयं विद्धि निरञ्जनं मां ।
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २३ ॥

निश्चय मुझको व्याकुलता से रहित जान निश्चय मुझको व्यापक जान निश्चय मुझको मायारहित जान मैं मोक्ष स्वरूपहूं और निरोगहूं ॥ २३ ॥

ध्यानानि सर्वाणि परित्यजन्ति ।
शुभाशुभं कर्म परित्यजन्ति ॥
त्यागामृतं तात पिबन्ति धीराः ।

स्वरूपनिर्वाण मनामयोऽहम् ॥ २४ ॥

धीर मनुष्य सब ध्यानोंको छोड देतेहैं शुभ अशुभ कामोंको छोड देतेहैं हे तात ! वे त्याग रूपी अमृत को पीतेहैं मैं मोक्ष स्वरूपहूं और निरोगहूं ॥ २४ ॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र ।
छन्दोलक्षणं नहि नहि तत्र ॥
समरसमग्नो भावितपूतः ।
प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥ २५ ॥

नतौ इसमें काव्यहै न छंद और लक्षणहै समान रसमें मग्न होकर भावना से शुद्ध होकर अवधूत केवल तत्त्वको कहता है ॥ २५ ॥

इतिश्री दत्तात्रेयविरचितायां अवधूतगीतायां स्वामिकार्त्तिकसंवादे स्वात्मसंवित्युपदेशोनाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

* पंचमोऽध्यायः *

श्रीदत्त उवाच ।

ओमिति गदितं गगनसमं ।
तन्न परापरसारविचार इति ॥

अविलासविलासनिराकरणं ।
कथमक्षरविन्दुसमुच्चरणम् ॥ १ ॥

॥ श्रीदत्त बोला ॥ वह ईश्वर ऊँकार रूप कहा गया है पहिला और पिछला इन के सारका बिचार उस में नहीं है अविलास और बिलास ये उस में नहीं है फिर अक्षर और अनुस्वार का उच्चारण कैसे हैं ॥ १ ॥

इति तत्त्वमसिप्रभृतिश्रुतिभिः ।
प्रतिपादितमात्मनि तत्त्वमसि ॥
त्वमुपाधिविवर्जित सर्वसमं ॥
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ २ ॥

इस प्रकार " तत्वं असि " इत्यादि श्रुतियों से तू प्रतिपादन किया गया है आत्मा के बीच में तत्व है तू माया से अलग है सब में समान है हे चित्त ! तू सब की तरह क्यों विलाप करता है ॥ २ ॥

अध ऊर्ध्वविवर्जितसर्वसमं ।
बहिरन्तरवर्जितसर्वसमम् ॥
यदि चैकविवर्जितसर्वसमं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ ३ ॥

ऊपर और नीचे से अलग है सब में समान है बाहर और भीतर से अलग है सब में समान है यदि एक सब

से अलग सब में एकसा है तौ रेमन तू सब की तरह क्यों रुदन करता है ॥ ३ ॥

न हि कल्पितकल्पविचार इति ।
नहि कारणकार्यविचार इति ॥
पद संधिविवर्जितसर्वसमं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ ४ ॥

यह कल्पित और कल्प का बिचार नहीं है, कार्य्य और कारण का बिचार नहीं है, यह पद और सन्धियों से रहित है सब में समान भाव है, फिर तू सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ ४ ॥

नहि बोधविबोधसमाधिरिति ।
नहि देहविदेहसमाधिरिति ॥
नहि कालविकालसमाधिरिति ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ ५ ॥

नतौ ज्ञान और अज्ञान की समाधि है न देह और विदेह की समाधि है न समय कुसमय की समाधि है रेमन ! सबकी तरह क्यों विलाप करता है ॥ ५ ॥

नहि कुंभ नभो नहि कुंभ इति ।
नहि जीववपुर्नहिजीव इति ।
नहि कारणकार्यविभाग इति ॥

किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ ६ ॥

नतो घडेका आकाश है न घडा है न जीवका शरीर है न जीव है न कारण और कार्यका विभाग है फिर हे मन ! तू क्यों विलाप करता है ॥ ६ ॥

इह सर्वनिरन्तरमोक्ष पदं ।
लघुदीर्घविचारविहीन इति ॥
नहि वर्तुल कोणविभाग इति ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ ७ ॥

यहां सब के वीच में मोक्षका पद है छोटे बडेका उस में विचार नहीं है गोलाकार और कोण इनका विभाग नहीं है फिर हे मन ! तु सवकी तरह क्यों विलाप करता है ॥ ७ ॥

इह शून्यविशून्यविहीन इति ।
इह शुद्धविशुद्धविहीन इति ॥
इह सर्वविसर्वविहीन इति ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ ८ ॥

यहां शून्य और विशून्य से अलग है यहां वह शुद्ध और अशुद्ध से अलग है यहां सव और थोडा इन से अलग है हेमन ! सब की तरह क्यों विलाप करता है ॥८॥

नहि भिन्नविभिन्नविचार इति ।

बहिरन्तरसंधिविचार इति ॥
अरिमित्रविवर्जितसर्वसमं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ ९ ॥

भेद और अभेदका इस में बिचार नहीं है वाहर भीतर और वीच में, इन का उस में विचार नहीं है शत्रु और मित्र ये उस में नहीं सब में समान है फिर हे मन ! सब की तरह क्यों रोता है ॥ ९ ॥

नहि शिष्यविशिष्यसरूप इति ।
न चराचरभेदविचार इति ॥
इह सर्वनिरन्तरमोक्षपदं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ १० ॥

शिष्य और अशिष्य का स्वरूप नहीं है चराचर का भेद नहीं है यहां सब में व्यापक है और मोक्षस्वरूप है हे मन ! सब की तरह क्यों रोता है ॥ १० ॥

ननु रूपविरूपविहीन इति ।
ननु भिन्नविभिन्नविहीन इति ॥
ननु सर्गविसर्गविहीन इति ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ ११ ॥

निश्चय वह रूप और कुरूपसे अलग है निश्चय वह

भेद और अभेद से अलग है निश्चय वह सृष्टि और वि-सर्ग से अलग है फिर हेमन ! सब की तरह क्यों विलाप करता है ॥ ११ ॥

न गुणागुणपाशनिबन्ध इति ।
मृत जीवनकर्म करोमि कथम् ॥
इति शुद्धनिरञ्जनसर्वसमं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ १२ ॥

यह गुण और अगुण के पाश से बँधा हुआ नहीं है, फिर मरण वा जीवन का विचार कैसे कर सकता हूँ । यह शुद्ध निरंजन और सर्व सम तत्व रूप है, फिर सर्व सम होकर मन, मनमें क्यों रोताहै ॥ १२ ॥

इह भावविभाव विहीन इति ।
इह कामविकामविहीन इति ॥
इह बोधतमं खलु मोक्षसमं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ १३ ॥

सर्वसम स्वरूप में भाव विभाव नहीं है, काम और निकाम भी नहीं है, यह बोधतम और मोक्ष के समान है । इस लिये तू सर्वसम होकर मन मनमें क्यों रोता है १३ ॥

इह तत्त्वनिरन्तरतत्त्वमिति ।
न हि संधिविसंधिविहीन इति ॥

यदि सर्वविवर्जितसर्वसमं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ १४ ॥

इसमें तत्व वा निरंतर तत्व नहीं है, सन्धि विसन्धि भी नहीं है, यदि यह सर्व विवार्जित है तो सर्वसम होकर भी तू मन मनमें क्यों रोता है ॥ १४ ॥

अनिकेतकुटी परिवारसमं ।
इह संगविसंगविहीनपरम् ॥
इह बोधविबोध विहीनपरं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ १५ ॥

इसके कुटी वा परिवार कुछ भी नहीं है, इस मे संग विसंग भी नहीं है, इसमें बोध और विबोध भी नहीं इस लिये तू सर्वसम होकर भी क्यों रोता है ॥ १५ ॥

अविकारविकारमसत्यमिति ।
अविलक्षविलक्षमसत्यमिति ॥
यदि केवलमात्मनि सत्यमिति ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ १६ ॥

अविकार वा विकार ये सब सत्य नहीं है, अविलक्षण वा विलक्षण ये भी सब सत्य नहीं है, यदि केवल आत्मा ही सत्य है तो इन बातों के निश्चय होने पर भी तू सर्व सम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ १६ ॥

इह सर्वतमं खलु जीव इति ।
इह सर्वनिरन्तरजीव इति ॥
इह केवलनिश्चलजीव इति ॥
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ १७ ॥

इस में सर्वतम जीब है, इस में सर्व निरंतर जीब है, इस में केवल निश्चल जीव है, अतएव तू सर्व सम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ १७ ॥

अविवेकविवेकमबोध इति ।
अविकल्पविकल्पमबोध इति ॥
यदि चैकनिरन्तरबोध इति ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ १८ ॥

अविबेक वा विवेक यह सब अबोध मात्र है, अविकल्प वा विकल्प यह सब अज्ञान मात्र है, यदि सर्वसम तत्व एक और निरंतर बोधमात्र है, तब तू सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ १८ ॥

नहि मोक्षपदं नहि बन्धपदं ।
नहि पुण्यपदं नहि पापपदं ॥
नहि पूर्णपदं नहि रिक्तपदं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ १९ ॥

न तो मोक्ष का पद है, न बंधन का पद है, न पुण्य का पद है, न पाप का पद है, न पूरा पद है, न रीता पद है, फिर हे मन! सब की तरह क्यों बिलाप करता है ॥ १९ ॥

यदि वर्णविवर्णविहीन समं ।
यदि कारणकार्यविहीनसमं ॥
यदिभेदाविभेदाविहीनसमं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ २० ॥

समतत्व यदि वर्ण विवर्ण से हीन है, यदि कारण और कार्य्य से विहीन है, यदि भेद और अभेद से हीनहै, तो तू सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ २० ॥

सर्वनिरन्तरसर्वचिते ।
इह केवलनिश्चलसर्वचिते ॥
द्विपदादिविवर्जितसर्वचिते ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ २१ ॥

यह तत्व सर्व निरंतर, सर्व चैतन्य जागरूक, केवल निश्चल भाव में सर्व चैतन्य है, इसी तरह द्विपदादि विवर्जित सबमें ही चैतन्य है, अतएव तू सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ २१ ॥

अतिसर्वनिरन्तरसर्वगतं ।

T

रतिनिर्मलनिश्चलसर्वगतं ॥
दिनरात्रिविवर्जितसर्वगतं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम् ॥ २२ ॥

यह तत्व निरंतर सर्वगत है, रति निर्मळ वा निश्चल रूप से सर्वगत है, दिन रात्रि से रहित होकर सर्व गत है, अतएव तू सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है २२

नहि बन्धविबन्धसमागमनं ।
नहि योगवियोगसमागमनं ॥
नहि तर्कवितर्कसमागमनं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ २३ ॥

इस तत्व में बन्ध और विबन्ध का समागम नहीं है, योग और वियोग का भी समागम नहीं है, तर्क वितर्क का भी समागम नहीं हैं, अतएव तू सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ २३ ॥

इह कालविकालनिराकरणं ।
अणुमात्रकृशानुनिराकरणं ॥
नहि केवलसत्यनिराकरणं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ २४ ॥

इस तत्व में काल विकाळ का निराकरण है, अणुमात्र पदार्थ का भी निराकरण है, केवल सत्य का निराकरण

नहीं है, फिर तू सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ २४ ॥

इह देहविदेहविहीन इति ॥
ननु स्वप्नसुषुप्तिविहीनपरं ॥
अभिधानविधानविहीनपरं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ २५ ॥

इसमें देह विदेह नहीं है, यह स्वप्न और सुषुप्ति से बिहीन है, अविधान विधान से दूर है, फिर तू सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ २५ ॥

गगनोपमशुद्धविशालसमं ।
विसर्वविवर्जितसर्वसमं ॥
गतसारविसारविकारसमं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ २६ ॥

यह समतत्व आकाश के समान विशाल, सब से रहित और सबके समान है, यह सार और विसार और विकार से रहित सर्वसम है, अतएव तू सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ २६ ॥

इह धर्मविधर्मविरागतरमि-
हवस्तुविवस्तुविरागतरम् ॥
इह कामविकामविरागतरं ।

T

किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ २७ ॥

इसमें धर्म और अधर्म में विराग होता है, वस्तु और अवस्तु में विलग होता है, काम और विकाम में भी विकार होता है, फिर तू सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ २७ ॥

सुखदुःखविवर्जितसर्वसमं ।
इहशोकविशोकविहीनपरं ॥
गुरुशिष्यविवर्जिततत्त्वपरं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ २८ ॥

यह सर्व सम तत्व सुख दुख से रहित, शोक विशोक से बिहीन, गुरू शिष्य के रहित परम तत्वहै, तब सर्वसम होकर तू मन, मनमें क्यों रोता है ॥ २८ ॥

न किलांकुरसारविसार इति ।
न चलाचलसाम्यविसाम्यमिति ॥
अविचारविचारविहीनमिति ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ २९ ॥

इसमें सार विसार का अंकुर मात्र भी नहीं है, चलाचल, विषमता, अविचार या बिचार कुछ भी नहीं है, फिर तू सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ २९ ॥

इह सारसमुच्चयसारमिति ।

कथितं निजभावविभेद इति ॥
विषये करणत्वमसत्यमिति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ ३० ॥

इसमें सारों का भी सार है, अपने भाव के बिभेद के कारण से यह तत्व कहा गया है, पार्थिव विषय में जो कुछ किया जाय वह सब असत्य ही है, अतएव सर्वसम होकर मन, मनमें क्यों रोता है ॥ ३० ॥

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति यतो ।
वियदादिरिदं मृगतोयसमं ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वसमं ।
किमु रोदिषि मानस सर्वसमं ॥ ३१ ॥

बहुधा श्रुति कहती है कि आकाशादि सब पदार्थ जो दृष्टिगत हो रहे हैं, वे सब मृगतृष्णा के समान है, अतएव यदि एक निरंतर और सर्वसम है, तो तू मन मनमें क्यों रोता है ॥ ३१ ॥

इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां स्वामि-
कार्तिकसंवादे आत्मसंवित्युपदेशो समदृष्टि
कथनम् नाम पंचमोऽध्याय ॥ ५ ॥

* षष्ठोऽध्यायः *

श्रीदत्त उवाच ।

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति वयं ।
वियदादिरिदं मृगतोयसमं ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवम्
उपमेयमथो ह्युपमा च कथं ॥ १ ॥

श्रीदत्त बोला कि अनेक श्रुतियां कहती है कि आकाशादि यह सम्पूर्ण जगत मृगतृष्णा के जलके समान है, यदि एक निरन्तर सर्व शिव उपमेय है, तो उस की उपमा कैसे हो सकती है ॥ १ ॥

अविभक्तिविभक्तिविहीनपरं ।
ननु कार्यविकार्यविहीनपरम् ॥
यदिचैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
यजनं च कथं तपनं च कथम् ॥ २ ॥

वह भाग विभाग से हीन पदार्थ है, वह कर्म और अकर्म से हीन परम पदार्थ है, यदि सर्व शिव एक और निरंतर है, तो यजन ही किस प्रकार से सम्भव है, और तपस्या ही किस प्रकार से सम्भव है ॥ २ ॥

मन एव निरन्तरसर्वगतं ।
ह्यविशालविशालविहीनपरम् ॥
मन एव निरन्तरसर्वशिवं ।
मनसापि कथं वचसा च कथम् ॥ ३ ॥

मन ही निरन्तर सर्वगत है, मन ही अविशाल और विशालता से हीन है, मन ही निरन्तर सर्व शिवमय है, यदि मन ऐसा है तो मन और बाणी द्वारा उसका अर्चन किस तरह हो सकता है ॥ ३ ॥

दिनरात्रिविभेदनिराकरणम् ।
उदितानुदितस्य निराकरणम् ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
रविचन्द्रमसौ ज्वलनश्च कथम् ॥ ४ ॥

यदि वह सर्व शिव एक निरन्तर है तो दिन रात्रि का भेद, अथवा उदित अनुदित का भेद निराकृत होजाते हैं तो सूर्य्य, चन्द्रमा वा अग्नि का प्रकाश ही किस तरह सम्भव हो सकता है ॥ ४ ॥

गतकामविकामविभेद इति ।
गतचेष्टविचेष्टविभेद इति ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
विनिरन्तरभिन्नमतिश्च कथम् ॥ ५ ॥

यदि सर्व शिव एक, निरन्तर और सत्य है तो काम विकाम विभेद, वा चेष्टा विचेष्टा भेद नष्ट होजाता है, फिर बाहर वा भीतर इस प्रकार का भिन्न भेद किस प्रकार हो सकता है ॥ ५ ॥

यदि सारविसारविहीन इति ।
यदि शून्यविशून्यविहीन इति ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
प्रथमं च कथं चरमं च कथम् ॥ ६ ॥

यदि सार बिसार, शून्य, विशून्य, यह सब कुछ भी नहीं है, यदि एक और निरन्तर सर्व सत्य है तो पहिला वा पिछला किस तरह सम्भव हो सकता है ॥ ६ ॥

यदि भेदकभेदनिराकरणं ।
यदि वेदकवेद्यनिराकरणम् ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
तृतीयं च कथं चरमं च कथम् ॥ ७ ॥

यदि भेद करनेवाला और भेद इनसे अलग है यदि जानने वाला और जानने योग्य इनसे अलग है यदि एक है और अंतर रहित सबमें शिवरूप है तो तीसरा और चौथा कैसे ॥ ७ ॥

गदितागदितं नहि सत्यमिति ।

विदिताविदितं नहि सत्यमिति ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
विषयेन्द्रियबुद्धिमनांसि कथम् ॥ ८ ॥

कहा हुआ और न कहा हुआ ये सत्य नहीं है जाना हुआ और न जाना हुआ यह सत्य नहीं है यदि एक है और अंतर रहित सबमें शिवरूप है तौ विषय कीं इन्द्रियों में बुद्धि और मन कस है ॥ ८ ॥

गगनं पवनो नहि सत्यमिति ।
धरणी दहनो नहि सत्यमिति ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
जलदश्च कथं सलिलं च कथम् ॥९॥

आकाश और पवन ये सच्चे नहीं हैं पृथिवी और पवन सच्चे नहीं हैं यदि एक हैं और भेद रहित सबमें शिवरूप है तौ बादल और जल कैसे है ॥ ९ ॥

यदि कल्पितलोकनिराकरणं ।
यदि कल्पितदेवनिराकरणं ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
गुणदोषविचारमतिश्च कथं ॥ १० ॥

यदि कल्पना किये हुए लोक को दूर करनेवाला है यदि कल्पना किये हुए देवताओं से अलग है यदि एक

है और भेद रहित सबमें शिवरूप है तौ गुण दोष की बुद्धि कैसे है ॥ १० ॥

मरणामरणं हि निराकरणं ।
करणाकरणं हि निराकरणं ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
गमनागमनं हि कथं वदति ॥ ११ ॥

मरना और जीना करना और न करना इस में निश्चय नहीं है यदि एक है और भेद रहित है सबमें शिव रूप है तौ जाना आना कैसे होता है ॥ ११ ॥

प्रकृतिः पुरुषो नहि भेद इति ।
कारणकार्यविभेद इति ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
पुरुषापुरुषं च कथं वदति ॥ १२ ॥

प्रकृति पुरुष और भेद निश्चय नहीं है कारण कार्य का भेद नहीं है यदि एक है और भेद रहित सबमें शिव रूप है तौ पुरुष और प्रकृति कैसे होते हैं ॥ १२ ॥

तृतीयं नहि दुःखसमागमनं ।
न गुणाद्वितीयस्य समागमनं ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
स्थविरश्चयुवा च शिशुश्च कथं ॥ १३ ॥

तीसरें जिसमें दुःख की प्राप्ति नहीं गुण से सुखकी प्राप्तिं नहीं है यदि एक है निरंतर सबमें शिवरूप है तौ बूढ़ा जवान बालक ये कैसे है ॥ १३ ॥

ननु आश्रमवर्णविहीनपरं ।
ननु कारणकर्तृविहीनपरं ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
अविनष्टविनष्टमतिश्च कथं ॥ १४ ॥

निश्चय आश्रम और वर्ण इनसे अलग है कारण और कर्ता इन से निश्चय हीन है यदि एक है और निरंतर सबमें शिवरूप है तौ अविनाशी और विनाशी ये बुद्धि कैसे है ॥ १४ ॥

ग्रसिताग्रसितं च वितथ्यमिति ।
जनिताजनितं च वितथ्यमिति ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
अविनाशि विनाशि कथं हि भवेत् १५

ग्रसना और न ग्रसना ये झूंठे हैं पैदा होना और न होना ये झूंठे हैं यदि एक है और भेद रहित है सबमें शिवरूप है तौ अविनाशी और नाशवान ये कैसेहैं।१५।

पुरुषापुरुषस्य विनष्टमिति ।
वनितावनितस्य विनष्टमिति ॥

यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं।
अविनोदविनोदमतिश्च कथं ॥ १६ ॥

पुरुष और नपुंसक इनका नाश है स्त्री पतिका नाशहै यदि एक भेद रहित सबमें शिवरूप है तौ आनंद और दुःखकी बुद्धि कैसेहैं ॥ १६ ॥

यदि मोहविषादविहीनपरो।
यदि संशयशोकविहीनपरः॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं।
अहमेति ममेति कथं च पुनः ॥१७॥

यदि मोह और दुःखसे हीनहै यदि संशय और शोकसे हीन है यदि एक भेद रहित सबमें शिवहै तौ फिर अहंता ता कैसे है ॥ १७॥

ननु धर्मविधर्मविनाश इति।
ननु बन्धविबन्धविनाश इति॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवमि-
ह दुःखविदुःखमतिश्च कथम् ॥ १८ ॥

निश्चय धर्म और पापका नाश है निश्चय बंधन और मोक्षका नाश है यदि एक भेद रहित सबमें शिवरूप है तौ यहां दुःख और सुखकी बुद्धि कैसे है ॥ १८ ॥

नहि याज्ञिकयज्ञविभाग इति।

न हुताशनवस्तुविभाग इति ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
वद कर्मफलानिभवन्ति कथं ॥ १९ ॥

याज्ञिक और यज्ञ इनका विभाग नहीं है न अग्नि और वस्तुका विभाग है यदि एक भेद रहित सबमें शिवहै तौ कर्मके फल कैसे होते हैं सो कहौ ॥ १९ ॥

ननु शोकविशोकविमुक्त इति ।
ननु दर्पविदर्पविमुक्त इति ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं ।
ननु रागविरागमतिश्च कथम् ॥२०॥

निश्चय शोक और अशोक से अलग है निश्चय घमंड और नम्रता इनसे अलग है यदि एक भेद रहित सब में शिव है तो बिषय लालसा और वैराग्य की बुद्धि कैसे है ॥ २० ॥

नहि मोहविमोहविकार इति ।
नहि लोभविलोभविकार इति ॥
यदि चैकनिरन्तरसर्व शिवं ।
ह्यविवेकविवेकमतिश्च कथम् ॥ २१ ॥

नतो मोह और बिमोह का बिकार है, न लोभ और

बिलोभ का विकार है, यदि एक भेद रहित सब में शिव है, तौ अज्ञान और ज्ञान कैसे है ॥ २१ ॥

त्वमहं नहि हंत कदाचिदपि ।
कुलजातिविचारमसत्यमिति ॥
अहमेव शिवः परमार्थ इति ।
अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥२२॥

तू और मैं ये कभी नहीं है, कुल और जाति का बिचार झूँठा है, असल में मेंही शिव हूँ, यहां दण्डवत्त कैसे करूँ ॥ २२ ॥

गुरुशिष्यविचारविशीर्ण इति ।
उपदेशविचारविशीर्ण इति ॥
अहमेव शिवः परमार्थ इति ।
अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥२३॥

गुरू और शिष्य का बिचार नहीं है, न उपदेश का बिचार है असल में मेंही शिष्य हूँ, यहां दण्डवत् कैसे करूँ ॥ २३ ॥

नहि कल्पितदेहविभाग इति ।
नहि कल्पितलोकविभाग इति ॥
अहमेव शिवः परमार्थ इति ।
अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥२४॥

T

कल्पना किये हुए देहका बिभाग नहीं है, न कल्पना किये हुए लोक का बिभाग है, वास्तव में मेंही शिव रूप हूँ, फिर प्रणाम किसको करूँ ॥ २४ ॥

सरजो विरजो न कदाचिदपि ।
ननु निर्मलनिश्चलशुद्ध इति ॥
अहमेव शिवः परमार्थ इति ।
अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥२५॥

रज संहित रज से अलग ये कभी नहीं है, निर्मल निश्चल और शुद्ध ये भी नहीं है, असल में शिव मेंहूं फिर प्रणाम कैसे करूँ ॥ २५ ॥

नहि देहविदेहविकल्प इति ।
अनृतं चरितं नहि सत्यमिति ॥
अहमेव शिवः परमार्थ इति ।
अभिवादनमत्र करोमि कथम् ॥२६॥

देह और विदेह का भेद नहीं है, झूँठा आचरण करना सत्य नहीं है, वास्तव में मेंही शिव हूँ, फिर दण्डवत कैसे करूँ ॥ २६ ॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र ॥
छन्दोलक्षणं नहि नहि तत्र ।

समरसमग्नो भावितपूतः ।
प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥ २७ ॥

इस पुस्तक में काव्य नहीं है, छन्द का लक्षण नहीं है, समान रस में मग्न होकर भावना से शुद्ध हुआ, आयोगी इस पंर तत्व को कहता है ॥ २७ ॥

इतिश्री दत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां स्वामिकार्तिकसंवादे स्वात्म संवित्युपदेशो मोह निर्णयोनाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

---

* सप्तमोऽध्यायः *

श्रीदत्त उवाच ।

रथ्याकर्पटविरचितकन्थः ।
पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः ॥
शून्यागारे तिष्ठति नग्नः ।
शुद्धनिरञ्जन समरसमग्नः ॥ १ ॥

श्रीदत्त बोला–गली में पडे हुए कपड़ों से जिसने कंथा बनाली, पुण्य और पाप जिसके मार्ग में नहीं है, शुद्ध माया से रहित समान रस में मग्न हुआ अवधूत नंगा होकर सूने मकान में रहता है ॥ १ ॥

लक्षालक्षविवर्जितलक्ष्यो ।

युक्तायुक्तविवर्जितदक्षः ॥
केवलतत्त्वनिरञ्जनपूतो ।
वादविवादः कथमवधूतः ॥ २ ॥

लक्ष और अलक्ष से जिसका लक्ष्य वार्जित है योग्य और अयोग्य इनसे बर्जित और चतुर है शुद्ध तत्व से पवित्र ऐसा वह योगी है, यहां बाद और विवाद किस प्रकार है ॥ २ ॥

आशापाशविबन्धनमुक्ताः ।
शौचाचारविवर्जितयुक्ताः ॥
एवं सर्वविवर्जितसंत-
स्तत्त्वं शुद्धनिरञ्जनवन्तः ॥ ३ ॥

आशा की फांसी के बन्धन जिसके छूटगये हैं, शौच और आचार बर्जित और युक्त है इस प्रकार सब झगडों को जिनने त्याग दिया ऐसे संतजन शुद्ध मायारहित तत्व को धारण करते हैं ॥ ३ ॥

कथमिह देहविदेहविचारः ।
कथमिह रागविरागविचारः ॥
निर्मलनिश्चलगगनाकारं ।
स्वयमिह तत्त्वं सहजाकारम् ॥ ४ ॥

यहां देह और विदेह का विचार कैसे है, यहां राग और विराग का विचार कैसे है, वह तत्व निर्मल है निश्चल है और आकाश के समान है, और आप स्वाभाविक आकार है कहने में नहीं आता है ॥ ४ ॥

कथमिह तत्त्वं विन्दति यत्र।
रूपमरूपं कथमिह तत्र ॥
गगनाकारः परमो यत्र।
विषयीकरणं कथमिह तत्र ॥ ५ ॥

जो कि शून्य आकार है उसमें तत्व कैसे जाना जाता है रूप और अरूप कैसे है उसमें विषय कैसे होता है॥ ५ ॥

गगनाकारनिरन्तरहंस–
स्तत्त्वविशुद्धनिरञ्जनहंसः ॥
एवं कथमिह भिन्नविभिन्नं।
बन्धविबन्धविकारविभिन्नम् ॥ ६ ॥

शून्याकार और भेद रहित हँस है शुद्ध तत्व और मायारहित हंस है इस प्रकार के इस में भेद और अभेद कैसे है वह हंस बंधन और मोक्ष से अलग है ॥ ६ ॥

केवलतत्त्वनिरन्तरसर्वं।
योगवियोगौ कथमिह सर्वम् ॥

एवं परमनिरंतरसर्व-
मेवं कथमिह सारविसारम् ॥ ७ ॥

वह सब केवल तत्व है और माया से रहित है उसमें योग और वियोग कैसे हैं घमंड कैसे हैं इस प्रकार वह सब भेद रहित हैं इसमें सार और असार कैसे हैं ॥ ७ ॥

केवलतत्त्वनिरञ्जनसर्वं ।
गगनाकारनिरन्तरशुद्धम् ॥
एवं कथमिह संगविसंगं ।
सत्यं कथमिह रङ्ग विरंगम् ॥ ८ ॥

यह सब केवल तत्व है और माया से अलग है शून्याकार है और अत्यन्त शुद्ध है इस प्रकार यहां संग और कुसंग सत्य कैसे हैं रंग और विशेष रंग कैसे हैं॥ ८

योगवियोगै रहितो योगी ।
भोगविभोगै रहितो भोगी ॥
एवं चरति हिमन्दं मन्दं ।
मनसा कल्पितसहजानन्दं ॥ ९ ॥

योगी संयोग और वियोग को छोडकर गृहस्थी भोग विभोगों को छोडकर इस प्रकार अपने मनमें स्वाभाविक आनन्द का विचार करके मंदी चाल से चलतेहैं । ९

बोधविबोधैः सततं युक्तो ।

द्वैताद्वैतैः कथमिह मुक्तः ॥
सहजो विरजाः कथमिह योगी ।
शुद्धनिरञ्जनसमरसभोगी ॥ १० ॥

जो आदमी ज्ञान और अज्ञान से सदा युक्त है वह द्वैत और अद्वैत से कैसे छूट सकता है जो स्वाभाविक रजोगुण से भरा हुआ है वह शुद्ध माया रहित समान रसका भोगने वाला कैसे हो सकता है ॥ १० ॥

भग्नाभग्नविवर्जितभग्नो ।
लग्नालग्नविवर्जितलग्नः ॥
एवं कथमिह सार विसारः ।
समरसतत्त्वं गगनाकारः ॥ ११ ॥

खंडित पदार्थ और अखंडित पदार्थ इनसे जिनका नाश नहीं है मिला हुआ पदार्थ अलग पदार्थ इन दोनों से अलग है समान रस है और तत्व है शून्याकार है उस में सार और असार कैसे हैं ॥ ११ ॥

सततं सर्वविवर्जितयुक्तः ।
सर्वं तत्त्वविवर्जितमुक्तः ॥
एवं कथमिह जीवितमरणम् ।
ध्यानाध्यानैः कथमिह करणम् १२ ॥

निरंतर सब से अलग हैं और मिला हैं सब तत्वों से

अलग हैं और आसक्त हैं इस प्रकार इसमें जीना और मरना कैसे है और ध्यान करना और न करना इसमें कैसे है ॥ १२ ॥

इन्द्रजालमिदं सर्वं यथा मरुमरीचिका ।
अखण्डितमनाकारो वर्तते केवलः शिवः ॥१३॥

यह सब संसार इन्द्रजाल है जैसे कि मृग तृष्णा का जल झूंठा है जिसके कि टुकडे नहीं होते जिसकी कि कोई शकल नहीं है ऐसा एक शिव है १३ ॥

धर्मादौ मोक्षपर्यन्तं निरीहाः सर्वथा वयम् ।
कथं रागविरागैश्च कल्पयन्ति विपश्चितः ॥१४॥

हम सब ओर से धर्म से लेकर मोक्ष तक कुछ चेष्टा नहीं करते हैं फिर विद्वान लोग राग और वैराग्य की कल्पना कैसे करते हैं ॥ १४ ॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र ।
छन्दोलक्षणं नहि नहि तत्र ॥
समरसमग्नो भावित पूतः ।
प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥ १५ ॥

इस पुस्तक में काव्य नहीं है छन्दों का लक्षण नहीं है समान रसमें मग्न हुआ भावना से शुद्ध हुआ योगी इस परम तत्व को कहता है ॥ १५ ॥

इतिश्री दत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां निरंजन कथनंनाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

T

* अष्टमोऽध्यायः *

श्रीदत्त उवाच ।

त्वद् यात्रया व्यापकता हता ते ।
ध्यानेन चेतोपरता हता ते ॥
स्तुत्या मया वाक्‌परता हता ते ।
क्षमस्व नित्यं त्रिविधापराधान् ॥ १ ॥

श्रीदत्त बोला तुम्हारी यात्रा से व्यापकता हत हो गई है, तुम्हारे ध्यान से चित्त की विषयपरता दूर होगई है, आपकी स्तुति के द्वारा मेरी वाक्‌परता नष्ट हो गई है हे गुरो ! मेरे इन तीनों अपराधों को नित्य क्षमा कर ॥१॥

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः २

अब मुनि का लक्षण कहते हैं ॥ कामों से जिसकी बुद्धि नष्ट न हो, इन्द्रियों को रोकने वाला हो कोमल हो, बेपरवाह हो, पवित्र हो, चेष्टा रहित हो, थोडा भोजन करता हो, शांत हो, स्थिर हो, मेरी शरण हो, उसको मुनि कहते हैं ॥ २ ॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।

अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ३

सावधान हो, गंभीर चित्त वाला हो, धीरज रखने वाला हो, छओं गुणों को जिसने जीत लिया हो अहंकार से अलग हो, मान देने वाला हो, समर्थ हो सबसे मित्रता रखता हो, दयालु हो, चतुर हो; ॥ ३ ॥

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥४॥

कृपालु हो, किसी से वैर न करे, सब प्राणीयों को सहने वाला हो, सत्य सारवाला हो, शुद्ध चित्तवाला हो समान हो सब का उपकार करने वाला हो ॥ ४ ॥

अवधूतलक्षणं वर्णैर्ज्ञातव्यं भगवत्तमैः ।
वेदवर्णार्थतत्त्वज्ञैर्वेदवेदान्तवादिभिः ॥ ५ ॥

वेद और अक्षरों के अर्थ और तत्व को जाननेवाला वेद वेदांत को जानने वाले भगवान के भक्त अवधूत का लक्षण नाम के अक्षरों से जानते हैं ॥ ५ ॥

आशापाशविनिर्मुक्त आदिमध्यान्तनिर्मलः ।
आनन्दे वर्तते नित्यमकारं तस्यलक्षणम् ॥६॥

अवधूत में पहिला अक्षर अ है उसका अर्थ कहते हैं आशा की फांसियों से अलग हो आदि मध्य अंत में निर्मल हो, नित्य आनंद में रहे यह अकार का लक्षण है ॥ ६ ॥

वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम्।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारं तस्य लक्षणम् ॥ ७ ॥

विषय वासना जिसमें है नहीं कुशल पूर्वक बोलता है जो वर्तमान है उनमें वर्तता है यह वकार का लक्षण है ॥ ७ ॥

धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तो निरामयः ।
धारणाध्याननिर्मुक्तो धूकारस्तस्य लक्षणम् ॥८॥

अब धू— का अर्थ कहते हैं ॥ धूलसे जिसका शरीर मैला है चित्त को जिसने रोक रक्खा है निरोगी है धारणा और ध्यान से अलग है यह धू कारका लक्षण है ॥ ८ ॥

तत्त्वचिंता धृता येन चिंताचेष्टा विवर्जितः ।
तमोऽहंकारनिर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम् ॥९॥

तत्व का जो विचार करता है चिंता से अलग है तम और अहंकार से अलग है यह तकार का लक्षण है ॥ ९ ॥

आत्मानं चामृतंहित्वा अभिन्नं मोक्षमव्ययम् ।
गतो हि कुत्सितःकाको वर्तते नरकं प्रति॥१०॥

अमृतरूपी भेद रहित मोक्ष स्वरूप अविनाशी आत्मा को छोड़कर खोटा कौआ नरककी ओर जाता है ॥१०॥

T

मनसा कर्मणा वाचा त्यज्यतां मृगलोचने ।
न ते स्वर्गोऽपवर्गो वा सानन्दं हृदयं यदि ॥ ११ ॥

मन कर्म बाणी से मृग नयनी को छोडो न तेरे स्वर्ग है न मोक्ष है जो तेरे हृदय में आनंद है तो स्त्री का त्याग कर ॥ ११ ॥

न जानामि कथं तेन निर्मिता मृगलोचना ।
विश्वासघातकीं विद्धि स्वर्गमोक्षसुखार्गलाम् ॥ १२ ॥

मैं नहीं जानता हूँ कि मृग के समान नेत्र वाली स्त्री को उसने क्यों बनाया उसको बिश्वासघात करने वाली स्वर्ग मोक्ष के सुखकी रस्सी जान ॥ १२ ॥

मूत्रशोणितदुर्गन्धे ह्यमेध्यद्वारदूषिते ।
चर्मकुण्डे ये रमन्ते ते लिप्यन्ते न संशयः ॥ १३ ॥

मूत्र और रुधिरकी जिसमें दुर्गन्ध है भ्रष्ट जिसका द्वार है ऐसे चमडे के कुंड में जो रमण करते हैं व लिप्त हो जाते हैं इसमें शक नहीं है ॥ १३ ॥

कौटिल्यदम्भसंयुक्ता सत्यशौचविवर्जिता ।
केनापि निर्मिता नारी बन्धनं सर्वदेहिनाम् ॥ १४ ॥

कुटिलता और कपट से भरी हुई, सत्य और शुद्धि वर्जित सब प्राणियों का बंधन रूप स्त्री को किसने बनाया ॥ १४ ॥

त्रैलोक्यजननी धात्री सा भगी नरको ध्रुवम् ।
तस्या जातो रतस्तत्र हाहा संसारसंस्थितिः १५

त्रिलोकी को पैदा करनेवाली और धारण करनेवाली भग जिसके अँग में है वह निश्चय नरक है, उसमें फँसने से आदमी जन्म लेता है, हा! हा!! संसार की कैसी रचना है ॥ १५ ॥

जानामि नरकं नारीं ध्रुवं जानामि बन्धनम् ।
यस्या जातो रतस्तत्र पुनस्तत्रैव धावति ॥ १६ ॥

मैं जानता हूं कि नारी निश्चय नरक है, मैं जानता हूं, कि स्त्री बन्धन है, इसमें रति करने से आदमी जन्म लेता है फिर भी वहीं दौड़कर जाता है ॥ १६ ॥

भगादिकुचपर्यंतं संविद्धि नरकार्णवम् ।
ये रमन्ते पुनस्तत्र तरन्ति नरकं कथम् ॥ १७ ॥

योनि से लेकर कुच तक नरक का समुद्र जानो। जो उसमें रमण करते हैं, वे नरक को कैसे तरते हैं १७

विष्टादिनरकं घोरं भगं च परिनिर्मितम् ।
किमु पश्यसि रे चित्त कथं तत्रैव धावसि ॥ १८

विष्टा से आदि लेकर घोर नरक रूपी यह योनि रची है, रे चित्त! तू क्यों देखता है और वहीं क्यों दौड़ता है ॥ १८ ॥

भगेन चर्मकुण्डेन दुर्गन्धेन व्रणेन च ।
खंडितं हि जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥१९॥

ये भग चमडे का कुण्ड है बुरी वास आती है इसमें घाव है, इस भग से देवता असुर, मनुष्यों से आदि लेकर सब जगत् खण्डित होरहा है ॥ १९ ॥

देहार्णव महाघोरे पूरितं चैव शोणितम् ।
केनापि निर्मिता नारी भगं चैव अधोमुखम्॥२०

देह रूपी महा घोर समुद्र में रुधिर भरा हुआ है, ऐसी स्त्री को किसने बनाया नीचे को जिसका छिद्र है, ऐसी योनि को किसने बनाया ॥ २० ॥

अन्तरे नरकं विद्धि कौटिल्यं बाह्यमंडितम् ।
ललितामिह पश्यंति इहामुत्रविरोधिनाम्॥२१॥

भीतर शरीर में नरक जानो बाहर को कुटिलता है, देखने में सुन्दर मालूम होती है, इस लोक और परलोक में विरोध करने वाली है ॥ २१ ॥

अज्ञात्वा जीवितं लब्धं भवस्तत्रैव देहिनाम् ।
यतो यातो रतस्तत्र अहो भवविडम्बना॥२२॥

उसीमें मनुष्यों का जन्म होता है इस प्रकार अपने पाये हुए शरीर को न जानकर उस में रति करता है, नरक को जाते हैं देखो ! कैसी संसार की विडम्बना है२२

दर्शनाद्धरते चित्तं स्पर्शनाद्धरते बलम् ।
संभोगाद्धरते वीर्यं नारीप्रत्यक्षराक्षसी ॥२३॥

देखने से चित्त को हरलेती है, स्पर्श करने से बलको हरती है, संभोग करने से वीर्य को खींच लेती है, इस प्रकार से स्त्री प्रत्यक्ष राक्षसी है ॥ २३ ॥

यत्र मुग्धारमन्ते च सदेवासुरमानवाः ।
ते यान्ति नरकं घोरं सत्यमेव न संशयः॥२४॥

इसमें देवता असुर और असुर और मनुष्य मूर्ख होकर रमण करते हैं, वे घोर नरक में जाते हैं यह सत्य है इस में शक नहीं है ॥ २४ ॥

अग्निकुण्डसमा नारी घृतकुम्भसमो नरः ।
संसर्गेण विलीयेत तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥२५॥

स्त्री आग के कुण्ड के बराबर है, पुरुष घी का घडा है, उसका संग होने से लीन होजाता है इससे उसका त्याग करै ॥ २५ ॥

गौडी माध्वी तथा पैष्टी विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
चतुर्थी स्त्री सुराज्ञेया ययेदं मोहितं जगत् ।२६।

गौडी, माध्वी, और पैष्टी; ये तीन तरहकी मदिरा है चौथी मदिरा स्त्री है जिससे यह संसार मोहित होरहा है ॥ २६ ॥

मद्यपाने महापापं नारीसंगे तथा भवेत् ।
तस्माद्द्वयं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेन्मुनिः ।२७।

मदिरा पीने में बडा पाप है वैसे ही स्त्री संगम में महा पाप है इससे इन दोनों को छोडकर मुनि को तत्त्व में मन लगाना चाहिये ॥ २७ ॥

चित्ताक्रान्तं धातुबद्धं शरीरं ।
नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम् ॥
तस्माच्चित्तं सर्वतो रक्षणीयं ।
स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संभवन्ति ॥२८॥

चित्त से खींचा हुआ धातुओं से बंधा हुआ यह शरीर है चित्त के नष्ट होने पर धातुओं का नाश हो जाता है इस लिये चित्त की चारौ ओर से रक्षा करनी चाहिये चित्त के सावधान होने पर बुद्धि सावधान रहती है ॥ २८ ॥

दत्तात्रेयावधूतेन निर्मितानन्दरूपिणी ।
ये पठन्ति च शृण्वन्ति तेषां नैव पुनर्भवः ॥२९॥

आनन्द रूपी दत्तात्रय अवधूत ने यह बनाई है जो इसको पढते और सुनते हैं उनका फिर जन्म नहीं होता॥ २९

इति श्रीदत्तात्रेयकृतायामवधूतगीतायां स्वामि--कार्तिकसंवादे स्त्रीनिराकरणं नामाष्टमोऽध्याय ॥ ८ ॥

T

श्रीः ।

अथ सप्तश्लोकीगीता प्रारम्भ ॥

भाषाटीका सहितः ।

ओंमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् १ ॥

अर्थ--अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं- हे अर्जुन ? ओं ऐसे एक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा स्मरण करता हुआ जो प्राणी शरीर को त्यागकर जाता है वह परमगतिको प्राप्त होताहै ॥१

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या ।
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ॥
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति ।
सर्वेनमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ २ ॥

अर्थ--अर्जुन कहते हैं कि हे ऋषीकेश ! (हे इन्द्रियों के मरने वाले) आपकी कीर्त्ति के कथन करने से संपूर्ण जगत् आनंदित होता है और आपमें प्रीति करता

है और भयभीत हुए सम्पूर्ण राक्षस दशों दिशाओं को भाग जाते हैं और संपूर्ण सिद्ध (महात्मा) जनों के समूह नमस्कार करते हैं हे भगवन् ऐसा आपका प्रभाव युक्तही है इसमें कोई आश्चर्य नहीं ॥ २ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखं ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ३ ॥

अर्थ--अब श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन के प्रति ब्राह्म स्वरूप कथन करते हैं- हे अर्जुन ! वह ब्राह्म चारों तरफ हाथ और पांवों वाला है और चारों तरफ नेत्र, मस्तक और मुखों वाला है और चारों तरफ कानों वाला है और वह ब्रह्म संपूर्ण जगत को आच्छादित करके अर्थात ढांक के स्थित रहता है ॥ ३ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ॥
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप ।
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ४ ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! कवि अर्थात् शास्त्र मात्रके कथन कर लावण पुराण अर्थात सब से प्राचीन, सबको शि करनेवाला, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, संपूर्ण विश्वका पोषण करने वाला, नहीं चिंतन करने में आवै ऐसे रूपवाल

T

और तम नाम अंधकार अथवा अज्ञान तिससे परे वर्त-मान ऐसे परमेश्वर का जो स्मरण करता है और योग बलसे प्राण त्याग करता है वह भगवद्धाम को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छंदांसियस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥५॥

अर्थ--जिस संसार रूप वृक्षके ऊपर को मूल (जड़) है, अर्थात् ब्रह्माआदिक देवता जड रूप हैं, और नीचेको शाखायें (टहनियां) अर्थात् मनुष्य आदिक शाखारूप हैं और चार वेद जिसके पत्ररूप हैं ऐसे संसाररूप इस अ-श्वत्थ (पीपल) वृक्ष को ज्ञानीजन अविनाशी अर्थात् नाशरहित कहते हैं ऐसे इस संसार रूप वृक्ष को जो जा-नता है वही वेद के अर्थ को जानता है ॥ ५ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो।
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो।
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहं ॥ ६ ॥

अर्थ–हे अर्जुन ! संपूर्णप्राणियोंके हृदयमें विराजमान हूं और मेरेसे ही संपूर्ण प्राणियों के स्मृति, ज्ञान और ज्ञानका नाश होता है, और संपूर्ण वेदोंकरके मैं ही जान

ने योग्य हूं. और मैंही संपूर्ण वेदांतशास्त्रका रचनेवालाहूं और मैंही वेदांतशास्त्र का जानने वाला हूं ॥ ६ ॥

मन्मना भवमद्भक्तोमद्याजी मांनमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ७ ॥

अर्थ--हे अर्जुन ? तू मेरे विषे अपने मनको लगा और मेरेही भक्त हो, और मेरा ही यजन (पूजन) आदि कर और मेरे कोही नमस्कार कर इस प्रकार मेरे विषे तत्पर हुवा, तू अपने आत्मा को मेरे में युक्त करके मेरे कोही प्राप्त होवेगा ॥ ७ ॥

इति श्रीसप्तश्लोकीगीता भाषाटीका समाप्ता ।

T

जर्राही प्रकाश ।

चारों भाग

बहुत दिन से इस पुस्तककी बड़ी आवश्य-कता थी, इसमें जर्राहों के उपयोगी बहुतसी बातें दी गई हैं अनेक प्रकारकी मरहम, नश्तर आदि लगानेकी विधि, घावोंके इलाज उपदंशादिकठिन रोगोंकी चिकित्सा, हड्डी, पसली, हाथ, पांव आदि की टूटी हुई हड्डियों के बांधने की विधि, और अनेक प्रकार के उपयोगी चित्र दिये गये हैं जिन्हें देखकर बहुतसा ज्ञान प्राप्त हो सक्ता है इस सर्वांग सुंदर पुस्तकमें प्रायः २०० पृष्ठ हैं मूल्य १॥)रु०

T

श्री गणेशाय नमः ॥ ह्रि... ॥ अ...य मध्ये उ-

कुर्यात् ॥ ततो जलेन तर्जन्या अष्टदलपद्मं लिखेत्
॥ तन्मध्ये कर्णिकायां प्रणवं लिखेत् । कोणेषु प्र-
णवं लिखेत् ॥ पाणिभ्यामुदकं गृहीत्वा ॥ ओरूम्
आगच्छ देव देवेश शङ्खचक्रगदाधर ॥ गृहाण
ऽस्मत्कृतां पूजां सर्वकेऽस्मिन्सन्निधिं कुरु ॥१॥
ततः सपरिवारमादित्यमण्डलात्स्वहृदयकम १
लाद्धा हस्तद्वयाऽङ्गुष्ठाऽनामिकाभ्यां प्रणवेन

T

आवाहनमुद्रयावासमआसमार्गे [illegible] आवाहय ॥ ओं
ह्रीं संस्थापितो भव ॥ ओं आवाहितो भव ॥ ओं ह्रीं सं
न्निहितो भव ॥ ओं ह्रीं आवाहितो भव ॥ ओं ह्रीं संस्था
पितो भव ॥ ओं ह्रीं सन्निहितो भव ॥ ओं सन्निरुद्धो भव
॥ ओं संमुखो भव ॥ ओं ह्रीं अवगुण्ठितो भव ॥ देव
ताया: उक्तस्थानेषु भूरग्न्यात्मने करन्यासं च
कुर्यात् ॥ ओं ह्रीं भूरग्न्यात्मने अंगुष्ठाभ्यां न
मः ॥ १ ॥ ओं ह्रीं भुवः प्राजापत्यात्मने तर्जनी

T

न० ॱ॑ां नमः॥३॥ॐस्वः सूर्यात्मने मध्यमाभ्यां नमः
२ ॥ॐ भूर्भुवः स्वः ब्रह्मात्मने अनामिकाभ्यां नमः
॥४॥ॐ महर्जनस्तपोज्ञानात्मने कनिष्ठिकाभ्यां
नमः॥५॥ॐ सत्यं सत्यात्मने करतलकरपृ
ष्ठाभ्यां नमः॥६॥ एवं हृदयादिन्यासः॥ॐ भू
रग्न्यात्मने हृदयाय नमः॥१॥ॐ भुवः प्राजाप
त्यात्मने शिरसे स्वाहा॥२॥ॐ स्वः सूर्यात्मने शि
खायै वषट्॥३॥ॐ भूर्भुवः स्वः ब्रह्मात्मने क

T

वचाय हुम्॥४॥ॐमहर्जनस्तपोज्ञानात्मने
नेत्रत्रयाय वौषट्॥५॥ॐसत्यंसत्यात्मनेऽस्त्र
स्त्राय फट्॥६॥ॐभूर्भुवःस्वरोमितिदिग्बन्धः
॥इतिन्यासः॥ॐप्रणवस्यान्तर्यामीप्रजाप
तिरृषिः।देवीगायत्रीछन्दःपरमात्मादेव
ता।ॐबीजंॐशक्तिःमङ्गलकमोक्षार्थेजपे
विनियोगः॥अथध्यानम्॥ॐविष्णुंभास्वत
किरीटाङ्गदवलयपुगाङ्कंमहाहारादिविभ्रम

T

ज०
३

श्रोणीभूषं सुवक्षोमणिमकरमहाकुण्डला

मण्डिताङ्गम् ॥ हस्तोद्यच्चक्रशङ्खाऽम्बुजगदम
मलम्पीतकौशेयवासो विद्योतद्भासमुद्यद्दि
नकरसदृशम्पद्मसंस्थंनमामि ॥१॥ शंखं
१ चक्रं २ गदां ३ पद्मं ४ धेनुं ५ गारुडम् ६
एवंच षट् मुद्रां प्रदर्शये ॥ ततः पञ्चपूजा
कुर्यात ॥ तत्क्रमः ॥ ॐ लं पृथिव्यात्मने गन्धं
समर्पयामि ॥ कनिष्ठिकाङ्गुष्ठयोः ॥ ॐ हमा

२२

काशात्मने पुष्पं समर्पयामि॥ अंगुष्ठतर्जमोः

ॐ यं वाय्वात्मने धूपं समर्पयामि तर्जन्याङ्गु
ष्ठयोः॥ ॐ रम्नकाह्यात्मने दीपं समर्पयामि म
ध्यमाङ्गुष्ठयोः॥ ॐ वं अमृतात्मने नैवेद्यं समर्प
यामि॥ अनामिकाङ्गुष्ठयोः॥ ॐ सं सर्वात्मने मंत्रपु
ष्पाञ्जलिं समर्पयामि करसंपुटयोः॥ ॐ वमिति धे
नुमुद्रया जलेनामृतमयं कृत्वा। ह्रादशप्रणवेनाभि
मंत्र्यात्रार्घ्यंनयं दद्यात्॥ ॐ मात्मैवेदं सर्वं॥ ॐ ब्रह्मैव

T

दं सर्वं। ॐ सर्वं खल्विदं ब्रह्म।। ब्रह्म बिंदुमुत्तरणात्तं

२२८ प्रणवेन तर्पणं कुर्यात्।। पुनः पञ्च पूजां कुर्यात्।। ॐ लं पृथिव्यात्मने गन्धं स०।। ॐ हं आकाशात्मने पुष्पं स०।। ॐ यं वाय्वात्मने धूपं स० ॐ रं वह्न्यात्मने दीपं स० ॐ वं अमृतात्मने नैवेद्यं स० ॐ सं सर्वात्मने मंत्रपुष्पं स०।। उत्तिष्ठ देव देवेश पुनरागमनाय च प्रसीद प्रणवत्वं च प्रविश्य हृदयं मम।।१।। हृदि प्रविष्ट देवं भावयेत्।। पुनः भूतन्यासादिक रन्यासमा कुं

ध

T

न्यासं च कृत्वा ॥ ॐ भूर्भुवः स्वरोमिति दिग्विमोकः

। ततो दक्षिणहस्तेन उदकं गृहीत्वा ॥ प्रणवेन व्याहृ
त्या १२ वारमभिमंत्र्य । त्रिः स्थित्रिवारं प्रोक्षयेत् । पुनः
उदकं गृहीत्वा पूर्ववदभिमंत्र्य त्रिवारं पीत्वा ॥ द्विरा
चम्य ॥ प्राणायामत्रयं कुर्यात् ॥ मनसा चिंतितं य
न्मे वाचाय द्भाषितं पुनः ॥ कायेन यत्कृतं कर्म सर्वे
ष्वाप्नेणं भवेत् ॥ २ ॥ ॐ तत्सत् ब्रह्मार्पणमस्तु
॥ इति संध्या समाप्ता ॥ अथ दण्डतर्पणम् ॥ अश्वा

ज ०
५

चाम्य ॥ श्राद्धे कर्मण्येवमनुक्रमं कुर्यात्। सर्वत्रैव प्रणवेन तर्पणं
कुर्यात्। श्राद्धे मूले पश्चादग्रे मध्ये द्वावारतः। त्रयं
त्रयं त्रयं पितुर्ग्रंथिमध्ये द्विवारः॥२॥ सुरास्तिष्ठन्ति द
र्भाग्रे दर्भमूले तु पूर्वजाः। प्रतिग्रन्थि पुराणा वा मध्ये
तिष्ठन्ति मानवाः।३। अस्माकं तु कुले जाता नामगोत्र
समुद्भवाः। ते सर्वे तृप्तिमायान्तु दर्भसंबंधिवारिणा।४।
ततो दर्भमूलेन संतांकेन।७। श्राद्धोऽन्न द्वादद्द्यावारं जल
मभिमंत्र्य पात्रे प्रोक्ष्य दंडाग्रेण न वा केन।८। श्राद्धोऽन्न
तथैव निर्हरसि क्षिपेत्। मातापितृसमो दंड भ्राता चगुरु

५

वस्तथा। पचिसाधनहेतुभ्यहरि मुकुन्दनमोस्तु ते। ५। तत्प

श्चात् गुर्वोचार्यादिभ्यो ऽभिवादनकुर्यात्। ॐ शंकराचार्येभ्यो
नमः ॐ पद्मपादाचार्येभ्योनमः। ॐ सुरेश्वराचार्येभ्योनमः।
ॐ हस्तामलकाचार्येभ्योनमः। ॐ गुरुभ्योनमः। ॐ परमगुरु
भ्योनमः ॐ परमेष्ठिगुरुभ्योनमः ॐ परात्परगुरुभ्योनमः ॐ
श्रीसूर्यायनमः। ततः इन्द्रादिदशदिक्पालेभ्योनमः। त
त्रक्रमः पूर्वे इन्द्रायनमः १ अग्नयेनमः २ पितृपतयेनमः ३
नैरृतयेनमः ४ अनन्तायनमः ५ वरुणायनमः ६ वायवे
नमः ७ कुबेरायनमः ८ ईशानायनमः ९ ब्रह्मणेनमः १०
इतिदशदिक्पालवन्दनम्। ॐ नारायणंपद्मभवंवशिष्ठं

शक्तिं च तत्पुत्रपराशरंच्च व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं।
गोविन्दयोगेन्द्रमथास्य शिष्यम्॥१॥ श्रीशङ्कराचार्य
मथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्॥ तं त्रो
टकं वार्तिककारमन्यान् स्मद्गुरून् संततमानतोऽस्मि
॥इति दण्डतर्पणम्॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु॥ ॥
॥ ॥श्रीः॥ ॥श्रीः॥ ॥श्रीः॥ ॥

T